चित्र मीमांसा के सन्दर्भ में अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज जगन्नाथ के विचारों का समीक्षात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

की

डी०फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध–प्रबन्ध

अनुसन्धाता

नागेन्द्र नारायण मिश्र

एम०ए०,(जे०आर०एफ०)

पर्यवेक्षक

डॉ० राम किशोर शास्त्री

रीडर

संस्कृत–विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संवत् २०५८ वैक्रमीय

प्रात: स्मरणीय परमपूज्य
पिता जी पण्डित श्री त्रियुगी नारायण मिश्र एवं
पूज्या माता जी श्रीमती प्राणवन्ती देवी के चरण
कमलों में सादर समर्पित

आत्म निवेदनम्

अज्ञय विधाना पराम्बा की अदृश्य शक्ति के बल से प्रस्तुत शोध – प्रबन्ध आज पूर्णत्व को प्राप्त कर सका अत सर्व प्रथम मै उन्ही आद्याशक्ति का स्मरण करता हू। मै चिर ऋणी हूँ जगत् के साक्षात् ईश्वर स्वरूप धर्मात्मा, सरल हृदय उदार पूज्य पिताजी एव सतत् वन्दनीया अपनी स्नेहसलिला मा का, जिनके प्रसाद स्वरूप आज मै इस स्थान तक पहुच सका।

मै हृदय से आभारी हू अपने गुरुतुल्य बडे भइया आचार्य जलेश्वर प्रसाद मिश्र का जिनके तप पूत कमलवत् चरणो मे बैठकर मैने विद्याध्ययन किया। इसी कम मे अपने मामा पण्डित जय नारायण शुक्ल एव श्री आद्या शकर पाण्डेय पूज्य चाचा जी का आभारी हू।

इलाहाबाद विश्व विद्यालय मे शिक्षा प्रारम्भ करने से लेकर प्रकाश स्तम्भ, प्रेरक एव सब कुछ रह अपने पर्यवेक्षक डा० राम किशोर शास्त्री–रीडर, सस्कृत विभाग का मै चिर ऋणी हू, जिनके सहयोग से आज इस ग्रन्थ का प्रणयन हो सका।

मै इसी कम मे अपने श्वशुर प्रो० महेन्द्र शुक्ल विभागाध्यक्ष सस्कृत विभाग, राजकीय डिग्री कालज चकिया, चन्दौली के समय–समय पर प्राप्त मार्ग दर्शन एव अमृतमयी आशी के लिये आभारी हू। आदरणीया माता जी (श्रीमती सत्य शुक्ला) का आशीर्वाद मेरे सम्बल को सदा बनाये रखा।

इस शोध कार्य मे स्नेह सलिला, सुधा वर्षिणी जीवन सङ्गिनी डा० (श्रीमती) अशुमाला मिश्रा हिन्दी विभाग – काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी का विशेष रूप से आभार व्यक्त करता हू, शायद उनके सहयोग के बिना यह दुरूह कार्य इस व्यस्तता मे हो पाना सभव नही था। मनोरन्जन से वातावरण के सृजन मे सहायक अपनी पुत्री अनुश्री

मिश्रा का सहयोग मेरे लिये स्फूर्तिदायक रहा। इसी क्रम मे अपनी साली डा० मनीषा शुक्ला सस्कृत विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी का समय–समय पर मिलने वाला सहयोग अवर्णनीय रहा। मै अपने अनुजो, माधवी, अवनीश, राजन, भानु प्रताप बृजेश एव बृजेन्द्र को समय–समय पर उनके द्वारा दिये गये सहयोग के लिये शुभ आशीर्वाद देता हू। इन सबके अतिरिक्त मै अपने सभी गुरूजनो सम्बन्धियो एव शुभेच्छुओ का हृदय से आभार व्यक्त करता हू। इन सभी का नाम गिनाकर मै उनकी विराट सङ्घात्मक शक्ति को सर्वनाम का बौनापन नही देना चाहता।

अन्त मे मुकेश रस्तोगी इस्टीट्यूट के देवरजन एव देवर्षि को इस कार्य को अतिशीघ्र पूर्ण करने मे सहयोग देने के कारण भूरि - भूरि साधुवाद देता हू।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध मे मैं कितना सफल रहा हू यह सुधी पाठको, गुरूजनो एव समीक्षको के हाथो मे सौपते हुये बस इतना ही कहता हू कि –

'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्

न चापि काव्यम् नवमित्यवद्यम्।

सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते

मूढ परप्रत्ययनेय बुद्धि ।।'

इति शम्
विद्वच्चरणचन्चरीक

नागेन्द्र नारायण मिश्र
एम०ए०, जे०आर०एफ०
सस्कृत विभाग
इलाहाबाद, विश्व विद्यालय
इलाहाबाद

विषय-सूची

प्रस्तावना

पराम्बा सरस्वती इस चित्र विचित्र ससार मे उस पर अवश्य अनुकम्पा करती हैं जो उसकी श्रुति अर्थात शास्त्र एव यत्न से उपासना करता है श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता ध्रुव करोत्येव कमप्यनुग्रहम्। सौभाग्य से सस्कृत साहित्य का अक्षय भण्डार ऐसे मनीषियो के चिरन्तन, सार्वजनीन सार्वकालिक सरस ललित सुन्दर कृतियो से भरा पडा है। वेदकाल से लेकर आज तक उसी भारती की उपासना नीरक्षीर विवेकी सुधीजन करते चले आ रहे है। सभी भली-भॉति जानते हैं कि भारतीय सस्कृत वाड्मय मे समीक्षा का अतिमहत्वपूर्ण स्थान है। सभी ग्रन्थकार पूर्व प्रतिपादित ग्रन्थकारो के मतो का गुण-दोष का विवेचन करके अपने मत का प्रकटन करते है और 'वादे-वादे जायते तत्वबोध इस सरणि (मार्ग) का अनुसरण करते है। अत सस्कृत साहित्य मे समीक्षा का प्रादुर्भाव पूर्व मे ही हो चुका था। ऐसा कहा जा सकता है। उन सबके मूल मे भाषा रही। भाषा ही किसी के विचारो के आदान – प्रदान का उचित माध्यम रही। दण्डी ने तो इसके बिना ससार को अन्धकारयुक्त बताया –

'इदमन्धतम कृत्स्न जायते भुवनत्रयम्

यदिशब्दाह्य ज्योतिरासससारान्न दीप्यते।"[1]

भाषा सम्बन्धी साहित्य मे परस्पर तुलनात्मिका प्रवृत्ति को ही समीक्षा कहते है। समीक्षा से समीक्षित साहित्य का पर्यालोचन होता हैं। इस समीक्षा से प्रस्तुत विषय का स्पष्ट प्रकाशन होता हैं। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध इसी दिशा मे एक लघु प्रयास है। सस्कृत साहित्याकाश में अलड्कार शास्त्र के परवर्ती मूर्धन्य विचारको मे अप्पय दीक्षित का नाम

---

१ काव्यादर्श

आदर के साथ लिया जाता है। ये केवल अलङकार शास्त्री के रूप मे ही नहीं अपितु साहित्यशास्त्र के सभी अगो पर इनका अप्रतिम प्रभाव था। मीमासा शास्त्र का इनका तलस्पर्शी, तत्वाभिनिवेशी ज्ञान यह पूर्णरूपेण स्पष्ट करता हैं कि इस मनीषी ने नव्य, न्याय एव व्याकरण के साथ–साथ वैदिकवाङ्मय का भी समीक्षात्मक अध्ययन किया है। पूर्वमतो के खण्डन के अनन्तर स्वविषयस्थापन इनकी प्रखर विदग्धता एव तीक्ष्ण प्रतिभा का प्रमाण है। इस साहित्योद्यान को सुरभित करने वाला तब से २–३ शताब्दियो के भीतर शायद् ही कोई विद्वान अपनी मौलिक कृति से उत्पन्न हुआ हो ऐसा कह पाना मुश्किल हैं। दीक्षित जी का समग्र परिवार विद्याव्यसिनी था। इनमे नीलकण्ठ दीक्षित का नाम किसे ज्ञात नहीं होगा?

यह सत्य है कि साहित्य शास्त्र के क्षेत्र मे पण्डितराज के बाद कोई चकाचौंध कर देने वाली कृति नहीं आई किन्तु फिर भी 'चित्रमीमासा' और 'कुवलयानन्द' आज के काव्यशास्त्रीय अध्येताओ के लिए अत्यन्त ही लोकप्रिय हैं।

मेरा तो मानना है कि आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज तक के विषय मे निरन्तर कुछ न कुछ लिखा जाता रहा और विद्वत् गोष्ठी मे वह चर्चा का भी विषय रही। इतना सब कुछ होते हुए भी न जाने क्यो अप्पय दीक्षित जैसे बहुमुखी प्रतिभा के धनी व्यक्ति के विषय मे कुछ भी नही लिखा गया। यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात रही है।

सस्कृत साहित्य के विविध क्षेत्रों मे अप्पय दीक्षित का अप्रतिम योगदान रहा है। मैंने प्रसगत 'चित्रमीमासा' विषय को लेकर केवल उन्हीं स्थलो की व्याख्या करने का प्रयास किया जहाँ पण्डितराज जैसे अलङकार शास्त्री और अन्य ध्वनिवादियो ने जबरदस्त गतिरोध था।

पण्डितराज ने इनका खण्डन किया और नागेशभट्ट आदि ने उनका उत्तर दिया है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध का उद्देश्य इन आक्षेप–प्रत्याक्षेपो के बीच उन प्रवृत्तियो का निरूपण

करना रहा है जो ध्वनिवादियों से उपेक्षित चित्रकाव्य को प्रतिष्ठापित करने मे सक्रिय रही है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मे पण्डितराज ने दीक्षित के परम्परा प्राप्त आचार पोषकता के कारण सिद्वान्तो मे आयी शिथिलता पर प्रत्यक्ष या परोक्ष कटुतर शब्दो से प्रहार किया है जिससे उस पर पक्षपात का आरोप भी लगता हैं। यथा–' निशेषच्युतचन्दन'–इत्यादि श्लोको मे सभी आलडकारिको ने ध्वनि माना है वहीं पण्डितराज ने दीक्षित के इस मत की कटु आलोचना की।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध 'चित्रमीमासा'–के सन्दर्भ मे अप्पयदीक्षित एव पण्डितराज जगन्नाथ के विचारो का समीक्षात्मक अध्ययन कुल सात अध्यायो मे विभक्त है जो निम्नवत् है –

<u>प्रथम अध्याय –</u>

प्रथम अध्याय अलड्कारशास्त्र के दो उत्तरवर्ती मूर्धन्य मनीषियो के व्यक्तित्व एव कृतित्व से सम्बन्धित है। इसमे इनके जन्म, शिक्षा एव इनकी भाषाशैली के प्रस्फुटन के साथ–साथ इनकी अनुपम कृतियो को विस्तार से बतलाया गया है। इस प्रथम अध्याय का नामकरण इसीलिए हमने "अप्पयदीक्षित एव पण्डितराज जगन्नाथ का व्यक्तित्व एव कृतित्व" किया हैं। वस्तुत· इनके व्यक्तित्व को समझे बिना इनकी कृतियो तथा पण्डितराज जगन्नाथ एव दीक्षित के वैमनस्य को नहीं समझा जा सकता हैं और इसी की कुछ न कुछ छाप (दीक्षित के आलोचना करते समय पण्डितराज द्वारा) दिखलाई पडती है। इसी कारण पण्डितराज ने कटुक्तियों का प्रयोग किया है जोकि जातिगत वैमनस्य एव पूर्वाग्रह का द्योतक है।

<u>द्वितीय अध्याय –</u>

द्वितीय अध्याय मे हमने काव्य शास्त्रीय परम्परा मे विविध आचार्यो के बीच इन दोनो

विद्वानो का क्या स्थान है तथा काव्यशास्त्र को इन्होंने क्या दिया है? इस पर प्रकाश डाला हे। इस अध्याय का नामकरण हमने "काव्यशास्त्र परम्परा मे अप्पयदीक्षित एव पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान" किया है।

<u>तृतीय अध्याय –</u>

प्राय सभी ध्वनिवादियो तथा आलकारिको द्वारा उपेक्षित पडे चित्रमीमासा की ओर ध्यान नही दिया गया। ध्वनिवादियो ने तो इसे हेय बतलाया और अवर या अधम काव्य कहा। अत हमने इसके महत्व एव इसका मूल प्रतिपाद्य विषय क्या हैं? इस पर प्रकाश डालते हुए इसका नामकरण "चित्रमीमासा का महत्व एव उसका मूल प्रतिपाद्य' रखा हैं।

<u>चतुर्थ अध्याय :–</u>

इस अध्याय मे काव्य का स्वरूप क्या है, उसके विषय मे विविध विद्वानो के क्या मत है, काव्य के कितने भेद हैं तथा चित्रमीमासा का उस काव्य के भेद के अन्तर्गत का स्थान हैं इसमें अब तक उपेक्षित पडे चित्रकाव्य को चित्रमीमासा के आलोक मे उचित स्थान पर रखने की दीक्षित द्वारा र्निवहित प्रकिया की समीक्षा की हैं। अत इसी कारण से इस विषय का नाम हमने "काव्यस्वरूप निरूपण एव चित्रमीमासा" रखा है।

<u>पचम अध्याय :–</u>

यहाँ हमने अलङ्कारो का जो वर्गीकरण किया है उसे अलङ्कार सर्वस्वकार से साभार ग्रहण किया है। 'चित्रमीमासा' मे मात्र १२ अलङ्कारो का ही वर्णन होने से शोधप्रबन्ध की प्रासंगिकता को ध्यान मे रखकर रचना शैली के आधार पर उन्हे सादृश्य मूलक नाम दिया गया है। पचम अध्याय का हमने <u>'सादृश्य मूलक भेदा–भेद प्रधान अलङ्कारों की समीक्षा'</u> नाम दिया है। इसमे हमने निम्न अलङ्कारो के लक्षण, उनके भेद–प्रभेद वैभत्य तथा अलङ्कार ध्वनि तथा अन्त में अपनी समीक्षा या समवलोकन प्रस्तुत किया है। वे चार अलंङ्कार निम्नवत् है–

१	उपमा	२	उपमेयोपमा
३	अनन्वय	४	स्मरण

षष्ठ अध्याय :–

इसका नामकरण आचार्य रूय्यक के वर्गीकरण के आधार पर ही सादृश्य मूलक अलङ्कार के अन्तर्गत आरोपमूलक अभेद प्रधान अलङ्कारो का लक्षण, मत, वैमत्य, अलङ्कारध्वनि तथा विवादित लक्षण एव उदाहरणो की समीक्षा की गई हैं, भेद प्रभेद दर्शाया गया है तथा अन्त मे अलङ्कारध्वनि दिखाकर समीक्षा की गई है। इसमे निम्न अलङ्कार आते है –

१	रूपक	२	परिणाम	३	ससन्देह
४	भ्रान्तिमान	५	उल्लेख	६	अपहनुति

इस अध्याय का नामकरण हमने "आरोपमूलक अभेद प्रधान अलङ्कारो की समीक्षा" नाम दिया है ।

सप्तम् अध्याय :–

इसमें हमने सादृश्यमूलक अलङ्कार के ही भेद अध्यवसायमूलक अलङ्कारो की समीक्षा – परीक्षा की है। इसके अन्तर्गत दो अलङ्कार चित्रमीमासा मे वर्णित है –

१ उत्प्रेक्षा

२ अतिशयोक्ति

अत हमने इसका नामकरण अध्यवसायमूलक अभेद प्रधान अलङ्कारो की समीक्षा किया है।

अन्त में हमने उपसहार करते हुए पण्डितराज जगन्नाथ के गुणो एव उनकी शैली के दोषो पर दृष्टिपात किया है और इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि कुछ स्थलो को छोडकर पण्डितराज द्वारा किया गया आक्षेप मात्र पण्डित्य प्रदर्शन, दुराग्रह एव जातिगत वैमनस्य का

ही परिणाम है, जोकि एक प्रखर समालोचक को शोभा नही देता है किन्तु पण्डितराज की मेधा के भी हम प्रशसक हैं जिन्होने किसी भी सिद्धान्त को ऑख मूँदकर नहीं माना। उसकी तर्क कसौटी पर जो खरा उतरता है वही मान्य हैं चाहे वह प्रतिकूल ही क्यो न हो। यदि यह 'लघुकृति, रचमात्र भी सुधीजनो, समीक्षको तथा जिज्ञासुओ के मनस् को सतृप्त कर सकी तो हम अपने को सौभाग्यशाली समझेगें। यदि कहीं भी इसमे रचमात्र सतुष्टि दिखलाई पडती है तो वस्तुत उसका श्रेय गुरूवर्य **डा०रामकिशोर शास्त्री**, रीडर सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय को है जिनके चरणकमलो मे बैठकर मैने इस दुर्बोध कृति को उनकी प्रेरणा से लघुरूप देने की कोशिश की । यदि कहीं कोई त्रुटि है तो उसमे वस्तुत मेरे ही विषय के प्रति अज्ञानता है एतद्दर्थ मृदु एव कटु वाणी के अभ्यस्त सुधी समीक्षक एव पाठक हमे क्षमा करेगे।

विनयावनत्

(एन०एन०मिश्र)

प्रथम अध्याय

.श्री

दक्षिण भारत की विभूति कहे जाने वाले श्रीमान् अप्पय दीक्षित का सस्कृत साहित्य के इतिहास मे गौरवपूर्ण विशिष्ट स्थान है। बहुमुखी प्रतिमा के धनी सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र विद्वान् के रूप मे इस मनीषा ने जिस भी काव्य पटल को स्पर्श किया वह सस्कृत साहित्य के उज्ज्वल आकाश मे झड्कृत हुए बिना न रह सका। इन्होंने मीमासा, वेदान्त, व्याकरण एव काव्यशास्त्र के विषयो पर महत्वपूर्ण चिन्तन किये और इस तरह से शताधिक पुस्तको के प्रणेता के रूप मे इनका नाम अमर हैं। साहित्यशास्त्र मे इनका योगदान भुलाया नहीं जा सकता हैं।

दीक्षित के सस्कृत साहित्य मे तीन नाम मिलते हैं। कहीं अप्पय, कहीं अप्पय्य और कहीं अप्प नाम मिलते हैं। 'कुवलयानन्द' के उपसहार मे उन्होने अपने नाम के लिये अप्प रूप का प्रयोग किया है।[1] रसगगाधर मे पण्डितराजजगन्नाथ अप्पय और अप्पय्य इन दोनो रूपो का प्रयोग करते हैं।[2]

श्री महालिग शास्त्री ने सस्कृत नाटको (कौण्डिन्य-प्रहसन, श्रृगारनारदीय और पतिराजसूय) की प्रस्तावना मे 'अप्पय' और अप्पय्य' दोनो रूपो का प्रयोग किया है।[3] 'चित्रमीमासा खण्डन' की प्रस्तावना के पद्य – ३ मे पण्डितराजजगन्नाथ ने अप्पय्य

१– 'अमु'' कुवलयानन्दमकरोदप्पदीक्षित ।
नियोगाद् वेडकटपतेर्निरूपाधि कृपानिधे ।।''

कुवलयानन्द पृ० ३०४

२– रसगड्गाधर, पृ० १४ और २२०

३– कौण्डिन्य प्रहसन, पृ० १
कुले महत्यप्पयदीक्षिताना
श्रीत्यागराजाध्वरिणा प्रपौत्र ।
श्रृडार नारदीय, पृ० ४, प्रतिराजसूय, पृ० ४

दीक्षित' का प्रयोग किया है।[1]

पण्डितराजजगन्नाथ के समकालीन कहे जाने वाले दीक्षित जी काची के सुप्रसिद्ध दार्शनिको एव प्रतिभाशाली द्रविण कवियो मे माने जाते थे। इनका स्थिति काल १५५४ ई० से १६२६ ई० के बीच माना जाता है। ऐसी जनश्रुति है कि पण्डितराज एव दीक्षित दोनों मे कटु वैमनस्य था। पण्डितराजजगन्नाथ के साथ इनकी विरोध सम्बन्धी कतिपय किवदन्तिया द्रष्टव्य है –

पण्डितराज तैलङ्ग ब्राहमण थे। इन्होने जयपुर मे एक पाठशाला खोला था। सयोगत एक बार एक काजी को विवाद मे पराजित किया। दिल्ली लौटकर उस काजी ने बादशाह से इनकी प्रशसा की, जिसके परिणाम स्वरूप बादशाह ने इनका काफी सत्कार किया। वहा किसी यवन कन्या पर आसक्त होकर उससे शादी कर लिया। कालान्तर मे काशी मे पण्डितो मे अग्रगण्य दीक्षित के नेतृत्व मे पण्डितो ने यह तो यवनी के ससर्ग से दूषित है" यह कहकर इनका बहिष्कार कर दिया। अत ये दीक्षित जी के विरोधी हो गये।

अप्पय दीक्षित के विषय मे विशेष तिथि का निर्धारण कर सकना सम्भव नहीं है। इस सन्दर्भ मे डा० राघवन का यह कथन समीचीन है – 'एक ही परिवार की तीन पीढियो मे' अप्पय नाम के तीन व्यक्ति हुये हैं। कौन सा प्रमाण किस अप्पय का काल निर्धारित करता है, यह जानना कोई सुगम कार्य नहीं है।[2] प्रो० हुल्श ने अप्पय की शिवादित्यमणिदीपिका से अवतरण उदघृत करते हुये यह सिद्ध करने की चेष्टा की है

१– सूक्ष्म विभाव्य मयका समुदीरिताना –
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरण विदध्या –
दस्यामहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि।।

२– Proceedings of the tentu session of all India Oiiental Conference - Page 176-180

कि इस ग्रन्थ के[१] प्रेरक पुरूष बेलूर के राजा चिन्नबोम्म हैं। ये चिन्नबीर के पुत्र हैं। राजा चिन्नबोम्म ऐतिहासिक पुरूष हैं।[२] कुवलयानन्द के उपसहार वाक्य से स्पष्ट है कि इन्होने राजा वेकट के आदेश से 'कुवलयानन्द' की रचना की[३] इन तथ्यो से यह निष्कर्ष निगमित होता है कि इनका रचनाकाल ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही माना जा सकता है।

इसकी पुष्टि अन्य स्रोतों से भी की जा सकती है। आचार्य मम्मट की कृति 'काव्यप्रकाश' की कमलाकरी टीका' के टीकाकार कमलाकर भट्ट अप्पय का उल्लेख करते हैं। ध्यातव्य है कि यह ईसा की सत्रहवीं शदी के प्रथम चरण की बात है।[४] ईसा की सत्रहवीं शती के मध्यभाग मे ही नीलकण्ठ दीक्षित ने 'चिमीमासादोषधिक्कार' की रचना की और 'चिमीमासा खण्डन का प्रत्युत्तर दिया है। अत तथ्यो की सगति के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध का माना जाय।

'प्राकृत मणिदीप' को चिन्नवोम्म नरेश की कृति घोषित करके भी दीक्षित ने अपने को चिन्नबोम का समकालीन सिद्ध किया है।[५]

१— South Indian Manuscript report page 90 - 100

२— South Indian Inscriptions Page 69 - 84

३— नियोगाद् वेङकटपतोर्निरूपाधि कृपानिधे:।

४— काणे—सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास — २२३।

५— कुप्पुस्वामी शास्त्री ट्रिनियल केटालाग। पृष्ठ सख्या — ६३०२

कुवलयानन्द पर लिखित 'रसिकरञ्जनी' नाम की टीका से टीकाकार गङ्गाधर बाजपेयी द्वारा अप्पय को अपने पितामह के भ्राताका गुरू बतलाया[1] जाना भी अप्पय को ईसा की सोलहवीं शती के अन्तिम चरण से लेकर ईसा की सत्रहवीं शती के प्रथम चरण तक के काल को ही प्रमाणित करता है।[2]

अप्पय दीक्षित, भट्टोजिदीक्षित और पण्डितराजजगन्नाथ ये तीनो सम सामयिक थे। ऐसा काणे ने इस प्रकार सिद्ध किया है – AMS of the चित्र मीमासा is dated Sumbat 1709 (I C 1652 - 53 A D) Therefore, both the रसगङ्गाधर and the चित्र मीमासा खण्डन were composed before 1650 and after 1641 A D and they are the product of a mature mind Therefore the literary activity of Jagannath lies between 1620 and 1660 A-D[3]

अप्पय दीक्षित द्रविण, भट्टोजिदीक्षित महाराष्ट्री और पण्डितराज जगन्नाथ तैलङ्ग ब्राहमण थे। तत्कालीन सामाजिक कट्टरता और रूढिवादिता के रहते इन तीनो मे विरोध होना स्वाभाविक था। इतना सब कुछ होते हुये भी पण्डितराज ने अप्पय दीक्षित का उन्मुक्त हृदय से स्वागत किया है – द्रविण शिरोमणिभि, द्रविण – पुगवै इत्यादि।

चित्रमीमासाखण्डनधिक्कार की रचना करके चित्र मीमासा खण्डन का उत्तर देने वाले अप्पय दीक्षित के भातृपौत्र नीलकण्ठ दीक्षित के 'शिवलीलार्णव'[4] से यह पता चलता है कि इन्होने सौ ग्रन्थो की रचना की। दुर्भाग्यवश अप्पयदीक्षित की बहुत कम

१– अस्मत्पितामहसहोदरदेशिकेन्द्र – रसिकरजनी

२– काणे – सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास – २४८

३– History of Sanskrit Poetics - Kane

४– द्वासप्रति प्राप्य समा प्रबन्धाञ्छतव्यधादप्पयदीक्षितेन्द्र – शिवलीलार्णव १–६

ही कृतिया उपलब्ध एव प्रकाशित हैं। इनकी कृतियों का वर्गीकरण विषय के आधार पर इस तरह किया जा सकता है।

(क) **भक्ति परक –**

१– शिवध्यान पद्धति

२– पचरत्न व्याख्या सहित

३– आत्मार्पण

४– मानसोल्लास

५– शिवकर्णामृत

६– आनन्द लहरी चन्द्रिका

७– शिवमहिम कालिका स्तुति

८– रत्नत्रय परीक्षा व्याख्या सहित

९– अरूणाचलेश्वर स्तुति

१०– अपीतकुचाम्बास्तव

११– चन्द्रकलास्तव

१२– शिवार्कमणिदीपिका

१३– शिव पूजा विधि

१४– नयमणिमाला व्याख्या सहित

१५– शिखरिणी माला

१६– शिवतत्वविवेक

१७– ब्रहम तर्कस्तव

१८– आदित्यस्तव रत्न व्याख्या सहित

१९– शिवाद्वैत विनिर्णय

(ख) **माध्वसिद्धान्त परक –**

१– न्याय रत्न माला व्याख्या सहित।

(ग) **अद्वैत वेदान्त परक –**

१– श्री परिमल

२– सिद्धान्तलेश सग्रह

३– नक्षत्रवादावली (वेदान्त)

४– मध्वतन्त्रसुखमर्दन

५– मध्यवमतविध्वसन

६– न्याय रक्षामणि

(घ) **रामानुज के मत पर आधारित –**

१– वरदराजस्तव

२– वेदान्तदेशिक विरचित पादुका सहस्त्र की व्याख्या

३– श्री वेदान्तदेशिक विरचित यादवाभ्युदय की व्याख्या

४– नयनमयूखमालिका व्याख्या सहित

(ङ) **पूर्व मीमासा परक –**

१– नक्षत्रवादावली

२– विधिरसायन

(च) **व्याकरण परक –**

नक्षत्रवादावली[1]

१– कुम्भकोणम् से प्रकाशित इस ग्रन्थ मे व्याकरण के कतिपय महत्वपूर्ण विषयो का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

(छ) <u>काव्य शास्त्रीय –</u>

१– वृत्तिवार्तिक

२– चित्रमीमासा

(३) <u>कुवलयानन्द –</u>

इन कृतियो के अन्तर्वस्तु को देखने से यह विदित होता है कि दीक्षित का साहित्यिक क्षेत्र विशाल तो था ही, इसके साथ ही साथ वे मीमासा, वेदान्त, व्याकरण, भक्ति और काव्यशास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे।

सस्कृत साहित्य मे इनकी ख्याति इनकी काव्यशास्त्रीय कृतियो के कारण ही है। चित्रमीमासा, कुवलयानन्द तथा वृत्तिवार्तिक के साथ इन्होने एक अन्य ग्रन्थ लक्षण रत्नावली का प्रणयन किया है, जिसमे नान्दी, सूत्रधार, पूर्वरग, प्रस्तावना इत्यादि नाट्य शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की है, किन्तु यह ग्रन्थ सम्प्रति अप्रकाशित है। इनमे से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थत्रय का सक्षिप्त इतिहास इस प्रकार है –

<u>वृत्तिवार्तिक –</u> इस कृति मे दो परिच्छेद हैं, जिसमे अभिधा और लक्षणा वृत्तियों का बृहद् विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस दृष्टि से देखने पर यह लगता है कि ये मीमासको से प्रभावित हैं। मीमासको ने भी अभिधावृत्ति के दीर्घदीर्घतर व्यापार को मानकर व्यञ्जना का खण्डन किया है।

यह ग्रन्थ अपूर्ण प्रतीत होता है क्योकि प्रस्तावना भाग मे तीनो वृत्तियो के विवेचन का सड्केत देकर केवल अभिधा एव लक्षणा का ही विचार किया, व्यञ्जना को छोड दिया।[1]

१– वृत्तय काव्यसरणावलकार प्रबन्धभि ।
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति त्रिस्रो निरूपिता ।।
तत्र क्वचित्क्वचिद् वृद्धैर्विशेषानस्फुटीकृतान्।
निष्टकयितुमस्माभि कियते वृत्तिवार्तिकम्।। वृत्तिवार्तिक – पृष्ठ – १

चित्रमीमासा – अपनी इस अनूठी कृति मे दीक्षित जी ने निम्न १२ अलङ्कारो को लेकर अर्थचित्र काव्य का वैदुष्यपूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया है –

१–	उपमा	२–	उपमेयापमा
३–	अनन्वय	४–	स्मरण
५–	रूपक	६–	परिणाम
७–	सन्देह	८–	भ्रान्तिमान्
९–	उल्लेख	१०–	अपह्नुति
११–	उत्प्रेक्षा	१२–	अतिशयोक्ति

किन्तु यह ग्रन्थ भी अपूर्ण है जो कि इस ग्रन्थ के अन्तिम पद्य से ही स्पष्ट हो जाता है –

अप्पर्धचित्रमीमासा न मुदे कस्य मासला
अनुरूरिव घर्माशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटे ।।[1]

किन्तु कुवलयानन्द से प्रतीत होता है कि चित्रमीमासा का और अधिक भाग रहा होगा, क्योकि वहा श्लेषालङ्कार के अन्त मे लिखा है कि – एतद्विवेचनन्तु चित्रमीमासाया द्रष्टव्यम्।"[2] इससे यह ध्वनित होता है कि चित्र मीमासा मे श्लेषालङ्कार का भी विवेचन था, जो कि इस समय उपलब्ध प्रकाशित पुस्तिको मे दृष्टिगत नहीं होता। इसी प्रसङ्ग मे कुवलयानन्द व्याख्याकार सर्वश्री वैद्यनाथ आचार्य लिखते हैं कि – यद्यप्युत्प्रेक्षानन्तरम् चित्र मीमासा न क्वापि दृश्यते।' इससे सिद्ध होता है कि – उनके समय मे चित्र मीमासा उत्प्रेक्षा अलङ्कार तक ही उपलब्ध थी और उसमे इस समय पाया जाने वाला अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं था।

१– कुवलयानन्द, पृष्ठ – १०५

२– कुवलयानन्द, पृष्ठ – १०५

इसके विपरीत उत्प्रेक्षा प्रसङ्ग मे दीक्षित जी कहते है कि – 'अधिक निदर्शनालङ्कारप्रकरणे चिन्तयिष्यते'[1]। प्रकारान्तरेणापि कतिचिदस्याभेदान् समासोक्ति प्रकरणे दर्शयिष्याम।[2] 'अन्यदत्रे विचारणीय समासोक्ति प्रकरणे विचारयिष्यते'[3]। इन सबसे यही विदित होता है कि अतिशयोक्ति के पश्चात् और भी अलङ्कार थे, जिनकी विवेचना दीक्षित जी करना चाहते थे।

अधुना, चित्र मीमासा की तीन टीकाये सुलभ हैं –

१– धरानन्द की सुधा

२– बालकृष्ण पायगुण्ड की गूढार्थप्रकाशिका।

३– चित्रालोक (इनके कर्ता का ज्ञान नही है)

<u>कुवलयानन्द –</u> आलङ्कारिको की दृष्टि से इस ग्रन्थ् का अति गौरवपूर्ण स्थान है। दीक्षित ने अपने इस तीसरी महत्वपूर्ण कृति में प्राय लक्ष्य और लक्षण पीयूष वर्ष जयदेव के चन्द्रालोक से लिये हैं।[4] इसमे दीक्षित के निज मनोगत भावो का पण्डितराज जगन्नाथ ने खण्डन कर दिया है।

इसकी प्रसिद्धि का प्रबल प्रमाण तो इसकी दस टीकाओ का होना है –

१– रसिकरजनी – गङ्गाधर बाजपेयी कृत

१– चित्रमीमासा, पृष्ठ – ३१६

२– वही, पृष्ठ – ३०६

३– वही, पृष्ठ – ३१३

४– कुवलयाननद्र पृष्ठ – २, येषा चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोका प्रायास्त एव तेषामितरेषा त्वभिनवा विरच्यन्ते।

२— अलङ्कार चन्द्रिका – कर्त्ता बैद्यनाथ तत्सत्

३— अलङ्कार दीपिका – पण्डित आशाधरकृत

ये तीनों प्रकाशित हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सात टीकाये निम्नवत् हैं –

४–५– नागोजी भट्ट कृत अलङ्कार सुधा एव विषम पद व्याख्यान

६— न्यायवागीश भट्टाचार्य कृत काव्यमजरी

७— मथुरानाथ कृत टीका

८— कुखीराम कृत टिप्पण

९— देवीदत्त कृत लध्वलङ्कार चन्द्रिका

१०— वेङ्गलसूरि कृत बधु रजनी (अप्रकाशित,

नक्षत्रवादावली एव प्राकृत मणिदीप—ये दोनों ही ग्रन्थ व्याकरण सम्मत हैं। प्राकृतमणिदीप दीक्षित की रचना है। यह स्वीकार करने मे कई आपत्तिया आती हैं, किन्तु इसके उपसहार वाक्य से यह विदित होता है कि यह अप्पय दीक्षित की ही रचना है। आश्रयदाता के नाम से ग्रन्थ के कृतित्व की ख्याति होना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। प्राकृतमणिदीप मे शौरसेनी, मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतो का बहुश प्रयोग दीक्षित जी को त्रिविक्रमदेव का उपजीवी द्योतित करता है।

दीक्षित जी की कृतियो का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट रूप से विदित होता है कि दीक्षित जी ने अपनी प्रखर मेधा से न केवल सग्राहक वृत्ति का अपितु प्रवीण विवेचक का भी परिचय दिया है। अगर देखा जाय तो एक कुशल समीक्षक के रूप मे दीक्षित जी ने ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन की विचारणा मम्मटाचार्य की स्पष्ट तर्क प्रधान शैली तथा विश्वनाथ आचार्य की अभिव्यक्ति का

सुन्दर समन्वय प्रस्तुत करने की चित्र मीमासा मे भरसक कोशिश की है। दीक्षित जी ने मम्मट की चित्रसम्बन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ एव प्राजल रूप से उपस्थित करने का प्रयास किया है। पण्डित राज जगन्नाथ की सशक्त दार्शनिकता के समक्ष दीक्षित जी भले न ठहर सके, किन्तु इनकी स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने की शैली अति प्रशसनीय है।

दीक्षित जी का खण्डनात्मक दृष्टिकोण भी अपने ढग का अद्वितीय है। लक्ष्य–लक्षण ग्रन्थ मे इनका प्रमुख ध्यान प्रतिपाद्य विषय (matter) की ओर जितना अधिक है, अलङ्कार विवेचन की अभिव्कजना प्रणाली की ओर बल्कि उतना नही है।

कौन सा अलङ्कार किस प्रकार प्रयोज्य है, यह दीक्षित जी के लिये चिन्तनीय नहीं है, बल्कि उनका लक्ष्य लक्षण के खण्डन – मण्डन की ओर अधिक है। यदि इनकी कोई कमजोरी है तो वह यह है कि इनके ग्रन्थो मे साहित्य और दार्शनिक वस्तु का ऐसा समन्वय है कि इनका विषय वस्तु और विषयव्कजना मे विचित्र असमानता ध्वनित होती है और इसी कारण पण्डितराज को भी इन पर कुछ कहने या लिखने का अवसर मिला।

वरदराजस्तव मे उनकी शैली स्वाभाविक और प्रभावकारी है। युक्तियो की अपूर्वता, भावो की सुन्दरतम अभिव्यक्ति तथा भाषा का अद्वितीय माधुर्य एव उदाहरणो की अनुकूलता के कारण यह स्तोत्र साहित्य अत्यधिक समाद्रित है।

सस्कृत साहित्य के उज्ज्वल नक्षत्रो मे एक पण्डितराज जगन्नाथ का नाम भी आता है। ये दीक्षित के समकालीन और दक्षिण भारत के परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विद्वानो मे से हैं। पण्डितराज जगन्नाथ का प्रादुर्भाव १६२० ई० से १६६० ई० माना जाता है। इनके पिता का नाम पेरूभट्ट तथा माता का नाम लक्ष्मी देवी

था। ये तैलङ्ग ब्राहमण थे[1] तथा अपनी प्रखर प्रतिभा के बल पर शाहजहा के वैभवशाली मुगलदरबार मे अपना यौवन व्यतीत किया।[2]

वैभवशाली मुगल सम्राट के दरबार में रहकर भी सस्कृत भाषा के माधुर्य और लालित्य की जो ध्वजा पण्डितराज ने फहरायी, वह आज भी अपने मे अद्वितीय है। इन्होने वहा दाराशिकोह को सस्कृत पढाया और वहीं सस्कृत साहित्य के रस माधुरी का पौन – पुन्येन सम्राट को रसास्वादन कराकर सम्राट के प्रिय पात्र बन गये। इन्होने बार–बार सम्राट के सस्कृत और आध्यात्म विद्या के प्रति अनुपम अनुराग आदि गुणो को देखकर 'जगदाभरण' नामक काव्य ग्रन्थ का प्रणयन किया। इन्होने जगह–जगह पर सम्राट की भूरि–भूरि प्रशसा भी की हैं।[3]

पण्डितराज कवि होने के कारण बड़े ही रसिक थे। दिल्ली मे लवङ्गी नाम की यवन कन्या के प्रति इनका प्रेम यत्र–तत्र सर्वत्र अति चर्चित था। यद्यपि यह यवनी सामान्य परिवार की थी, किन्तु उसकी कमनीयता का गुणगान करते ये अघाते नहीं। सिर पर घट धारण किये हुये यवनी का मधुर चित्र दर्शनीय है।[4]

१– तैलङ्गान्वयमङ्मलालयमहालक्ष्मीदलालालित ।

श्रीमत्पेमरभट्टसुनूरनिश विद्ववल्ललात तप ।। – प्राणाभरणान्ते

२– दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीत नवीन वय ।

३– दिल्लीश्वरो वा, जगदीश्वरो वा।

मनोरथान् पूरयितु समर्थ ।।

अन्येन केनापि नृपेण दत्त।

शाकाय वा स्याल्लवणाय वा स्यात्।।

४– न याचे गजालि नवा वाजिराजि न वित्तेषु चित्त मदीय कदाचित्,

इय सुस्तनीमस्तकन्यस्तकुम्भा लवङ्गी कुरङ्गी दृगङ्गी करोतु ।।

लवड्.गी के प्रति उनकी यह आशक्ति इतनी विकट है कि पण्डितराज को रात हो या दिन इनको आराम नहीं है। उसके बिना स्वर्ग के सुख को भी हेय समझने वाले पण्डितराज की रसिकता का आनन्द तो अनुभूति करने योग्य है।[1]

सौभाग्य से पण्डितराज ने वाराणसी मे ज्ञानेन्द्र[2] भिक्षु से वेदान्त, शास्त्र, महेन्द्र पण्डित से न्याय वैशेषिक दर्शन तथा अपने पिता से निखिल शास्त्रो का ज्ञान प्राप्त किया।[3]

यवन कन्या के साथ अपने दुर्दमनीय यौवन को बिताकर ये पुन जब काशी आये तो वृद्धावस्था मे दीक्षित जैसे गणमान्य पण्डितो ने इन्हे 'यवनससर्गाद्दूषितोऽयम्' कहकर जाति से बहिष्कृत कर दिया और तिरस्कृत किया। ये उसी पाप का प्रायश्चित करने के लिये 'मधुपुरी मध्ये हरि सेव्यते'

१— यवनीनवनीतकोमलाड्.गी शयनीये यदि नीयते कदाचित्।'
अवनीतलमेव साधु मन्ये न वनी माघवनी विनोदहेतु ।।
यवनी रमणी विपद शमनी कमनीयतया नवनीत समा।
उहि — उहि वचोऽमृतपूर्णमुखी ससुखी जगतीहयदड्.कगता।।

२— श्रीमज्ज्ञानेन्द्रभिक्षोरधिगत सकलब्रहमविद्याप्रपच ।
काणादीनक्षपादीनपि गहन गिरो यो महेन्द्रादवेदीत्।।
देवादेवाध्यगीष्ट स्मरहरनगरे शासन जैमिनीय
शेषाड्.क प्राप्तशेषामलमणितिरभूत्सर्वविद्याधरो य ।। रस०श्लो० —२

३— पाषाणादपि पीयूष स्यन्दते यस्य लीलया,
त वन्दे पेरूभट्टाख्य लक्ष्मीकान्तं महागुरूम्। रस०श्लो०

मथुरा आकर कृष्ण की आराधना मे लग गये और अन्त समय मे काशी मे पचगगा घाट पर बैठकर गगा लहरी की रचना की। इन जनश्रुतियो मे कितना सत्य है यह तो कह पाना बडा मुश्किल है किन्तु 'नहि निर्मूला जनश्रुति' इस उक्ति को नकारा नहीं जा सकता। भक्त वत्सला गगा भी इनसे इतनी द्रवित हो गयी कि कहते हैं कि भक्तिभाव से गाये गये एक – एक श्लोक पर मा पतित पावनी गगा इनके पास आती चली गयी। पाच – पाच श्लोक तक आते – आते इन्हे अपने उदरस्थ करके इन्हे और इनकी प्रेमिका (धर्म पत्नी) को मुक्ति प्रदान की। यह इनके यवनी प्रणय का अन्तिम प्रायश्चित था।[1]

इसके दूसरी तरफ एक दूसरा मत भी है कि दिल्लीश्वर के दरबार मे रहते हुये इनका किसी यवन युवती से प्रेम हो गया और वही इन्होने शादी कर ली। कालान्तर मे उस यवन युवती की मृत्यु से विरहतुर यह वाराणसी मे आये और विद्वज्जनो से तिरस्कार पाकर अपना गंगा लहरी का पाठ करते हुये गगा प्रवाह मे अपने को विलीन कर दिया।[2]

वस्तुत यही मत समीचीन लगता है। क्योकि भामिनी विलास के तृतीय स्तवक को प्रमाण न माना जाये तो रसगड्गाधर मे उद्घृत "अपहायसकलवान्धव–चिन्तामुद्वास्यगुरूकूलप्रणयाम" का कोई औचित्य नहीं होगा।

१– सुरधुनिमुनि कन्ये तारये पुण्यवन्तम् स तरति निज पुण्यैस्तत्र कि ते महत्त्वम्।
यदि हि यवनकन्या पापिनीं मा पुनीहि तदिह तव महत्त्व तन्महत्त्व महत्त्वम्।।
रस० प्रस्तावना पृष्ठ ३ – ३६

२– भामिनी विलासस्य तृतीय स्वतक प्रमाणम्।

फिर भी जो लोग यह कहते हैं कि वे अपनी कृति गगा लहरी का पाठ करते हुये यवनी के साथ गगा मे विलीन हो गये वस्तुत वे भ्रान्त ही हैं क्योकि गगा लहरी के अनन्तर ही रस गड्गाधर की रचना हुयी इसमे कोई सन्देह नहीं है। उन्होने रस गड्गाधर मे बहुत से तत्तदलड्कारो के प्रदर्शनार्थ गड्गा लहरी के बहुत से पद्य उदघृत किये हैं।[1]

दूसरी ओर घाट पर किसी यवन युवती के वाहुपाश मे आबद्ध व्यक्ति को देखकर दीक्षित का पूर्वार्द्धश्लोक पाठ और उसको सुनकर पण्डितराजजगन्नाथ का उत्तरार्द्ध पाठ विषयक प्रमाण भी निर्मूल ही होगा। अत गड्गाप्रवाह मे निमज्जन विषयक कथन निराधार ही प्रतीत होता है।

साराश यह है कि पण्डितप्रवर जगन्नाथ ने सब कुछ करने के बाद दीक्षित इत्यादि के मतो का खण्डन करके यवनी के ससर्ग दोष परिमार्जन हेतु काशी[2] या मथुरा[3] मे भगवद् भजन करते हुये परमपद को प्राप्त हो गये।

१—क— वधानद्रागेव द्रढ्रिम रमीणीय परिकर। ध्वनिनिरूपणेऽर्थान्तरतिरस्कृतवाच्य स्योदाहरणम्। र०पृ० १४७

ख— कृतक्षुद्रा घोघानथ सपदि सन्तप्तमनस — रस० अनन्वय, पृष्ठ — २०४

ग— नगेभ्यो यान्तीना कथय तटिनीना कमतया — रस० पृष्ठ — २१०

घ— समृद्ध सौभाग्य सकल वसुधाया किमपि तत् रस० पृष्ठ — २५३

२— सम्प्रत्यन्धकशासनस्य नगरे तत्व पर चिन्त्यते।

३— सम्प्रत्युज्झितवासन मधुपुरी मध्ये हरि सेव्यते।

रस० प्रस्ता० पृष्ठ — ४१

पण्डितराज अनेक ग्रन्थो के प्रणेता थे। जिनका सक्षिप्त परिचय अधोलिखित है।

१– करूणा लहरी – भगवान् विष्णु की स्तुति माधुर्य एव ललित पद्यो के माध्यम से की गयी हैं।

२– पीयूष लहरी – इसे ही गगा लहरी के नाम से प्रसिद्धि मिली है। पण्डितराज की यह लोकोत्तर कृति आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाली है। इसमे भगवती गड् गा की स्तुति की गयी है।

३– अमृत लहरी – इसमे यमश्वसा मा यमुना की स्तुति की गयी है।

४– लक्ष्मी लहरी –

५– सुधा लहरी

<u>चित्र मीमासा खण्डनम् –</u> इसमे अप्पय दीक्षित के इस ग्रन्थ के कुछ अशो का पण्डितराज द्वारा प्रबल तर्कणा के माध्यम से खण्डन किया गया है।

<u>जगदाभरण्म –</u> इसमे शाहजहा के पुत्र दाराशिकोह की मनोरम ढग से प्रशस्ति विद्वद्वर जगन्नाथ ने किया है।

<u>प्राणाभरणम् –</u> इसमे कामरूप देश के राजा प्राणनारायण का मनोहारी वर्णन किया गया है। इसकी टिप्पणी भी कविराज जगन्नाथ ने ही की है।

<u>आसफ विलास–</u> इसमे नवाब आसफ खान के भोग विलास, वैभव, राजकीय किया–कलाप का चित्रण किया गया होगा। ऐसा नाम से अनुमान किया जाता है। यद्यपि यह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है किन्तु अपने रस गड् गाधर मे दो

पद्यो के माध्यम से कवि ने इसका उल्लेख किया है। अत इस नाम का कोई ग्रन्थ अवश्य रहा होगा। ऐसा अनुमान किया जाता हैं।

<u>भामिनी विलास –</u> इसमे पण्डितराज के द्वारा रचित पद्यो का मनोहारी सग्रह है जो कि सर्व सुलभ है।

<u>मनोरमा कुचमर्दनम् –</u> व्याकरण के उद्भट विद्वान् भट्टोजी दीक्षित के द्वारा रचित <u>'मनोरमा'</u> नामक व्याकरण ग्रन्थ का खण्डन लेखक के प्रौढ वैदुष्य का परिचायक है।

<u>यमुना वर्णनम् –</u> यह भी यमुना स्तुति का गद्य परक ग्रन्थ है जो कि अनुपलब्ध हैं। इसके विषय मे रस गड्.गाधर मे कुछ पद्य उदघृत किये गये हैं।

<u>रसगड्.गाधर –</u> पण्डितराज जगन्नाथ की काव्य तत्व विषयक नैयायिक भाषा शैली मे गद्य रूप मे लिखा हुआ यह एक विशाल एव अप्रतिम ग्रन्थ है।

इसमे आनन नामक दो अध्याय हैं। ग्रन्थ के नाम से तथा उसके अध्यायो को दी गयी सञ्ज्ञा आनन से यह स्पष्टत ध्वनित होता है कि पण्डितराज के मनोमस्तिष्क मे इसे पचाननात्मक रूप देना रहा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से यह पूर्ण न हो सका।

प्रथम आनन मे कमश 'काव्य लक्षण', काव्य विधा, रस, गुण और भाव, ध्वनि आदि का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

द्वितीय आनन मे इस मनीषा ने रस, ध्वनि और अलकारो पर विचार किया है। अलड्.कारो के अन्तर्गत ७१ अलड्.कारो का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम अलड्.कार उत्तर अलड्.कार है। जो कि रस गगाधर के किसी भी सस्करण मे पूर्ण नहीं मिलता है। इस कारण इसकी अपूर्णता सिद्ध होती है। इस

अपूर्णता के पीछे कारण जो भी हो किन्तु उनका देह त्याग इसमे क॰ ॰ण नही था इतना स्पष्ट है। इन्होने चित्र मीमासा खण्डनम् मे स्वय कहा है कि रसगड्गाधर के अनन्तर इसकी रचना की जा रही है।

पण्डितराज के परवर्ती नागेश भट्ट द्वारा भी लिखित रस गड्गाधर की टीका अपूर्ण ही मिलती है। आज तक सस्कृत जगत् को उनके बाद कोई भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ, जिससे इसे पूर्णत्व प्राप्त होता।

पण्डितराज के समय तक प्राय काव्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तो एव सम्प्रदायो के प्रस्थान हो चुकने के बाद भी इस ग्रन्थ को अतिशय सम्मान प्राप्त हुआ जो कि इस बात का द्योतक है कि काव्यशास्त्र को उससे कुछ ऐसी समृद्धि प्राप्त हुयी जिससे सुधी मानस सहजभाव से उनके ग्रन्थानुशीलन मे प्रवृत्त होता है और स्वभावत साहित्यिक प्रेरणा का अनुभव करता है।

रसगड्गाधर अपनी गम्भीरता एव क्लिष्टता के कारण भी व्याख्याताओ, टीकाकारो और अध्येताओ के विशेष आकर्षण का विषय नहीं बन सका। प्राचीन टीकाकारो मे नागेश की टीका अति सक्षिप्त होने के कारण मात्र टिप्पणीवत् ही सहायिका का कार्य कर पाने मे सक्षम है।

अर्वाचीन विद्वानो द्वारा किये गये तत्सम्बन्धी कार्य अभी तक अनुवादो और सैद्धान्तिक लेखो के रूप मे पत्र पत्रिकाओ मे प्रकाशित हुये हैं। इनमे श्री बी०ए० रामास्वामी शास्त्री के लेख अन्नामलाई विश्व विद्यालय के जनरल मे प्रकाशित हुये हैं। उन सभी का सकलन Pandit Raj - A study नामक पुस्तक के रूप मे उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त डा० प्रेमस्वरूप गुप्त की 'रसगड्गाधर का

शास्त्रीय अध्ययन जो कि अलीगढ विश्वविद्यालय एव श्री कमलदेव त्रिपाठी का 'सस्कृत काव्य शास्त्र मे पण्डितराज की देन' नामक शोध प्रबन्ध जो कि इलाहाबाद विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुआ है एक स्तुत्य एव महत्वपूर्ण कार्य हैं। आगरा विश्वविद्यालय एव विक्रम विश्वविद्यालय (उज्जैन) में इस पर कुछ कार्य हुआ है।

उपर्युक्त सभी शोध प्रबन्धो में रसगङ्गाधर के किसी एक अङ्ग का ही परिचय मिलता है चाहे वह रसगङ्गाधर की एक लक्षण ग्रन्थ के रूप मे प्रतिष्ठा हो अथवा पण्डितराज के उत्कृष्ट पण्डित्य को मुखर करने वाले ग्रन्थ के रूप मे उसकी उपादेयता अथवा किसी परिमार्जित सिद्धान्त को प्रस्तुत करने वाले रचना के रूप मे उसकी प्रामाणिकता के रूप मे हो। इस प्रौढ़ और विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ मे पण्डितराज ने प्राय सभी उदाहरण स्वरचित ही दिये हैं।[1]

पण्डितराज के समय मे सुरभारती के विकास की जो धारा बही वह अपने मे अद्वितीय है। इस समय के पण्डितो मे नव्यन्याय और व्याकरण के प्रति प्रदर्शित प्रेम उसकी प्रतिभा और गम्भीरता के ही प्रमाण हैं। इस समय अनेक वाक्यो की बात छोडिये, एक – एक शब्द और एक – एक वर्ण तथा मात्रा को लेकर भी गम्भीर मन्थन चलता था। परिणाम स्वरूप अर्द्ध मात्रा लाभ ही उनके

१– निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप।

काव्य मयान् निहित न परस्य किचित्।।

कि सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्ध।

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।

लिये इस लोक मे सबसे बडा लाभ था।[1] जो शैली श्रीमद् अभिनवगुप्तपादाचार्य द्वारा अलङ्कार शास्त्र मे अङ्कुरित हुयी, वाग्देवता परावतार श्री मम्मट भट्ट द्वारा कन्दलित हुयी, श्रीमद् अप्पय दीक्षित इत्यादि मनीषियो द्वारा जो पुष्पित हुयी, वही पण्डितराज जगन्नाथ के द्वारा फलवती हुयी, ऐसा कहने मे कोई सन्देह नहीं है। न्याय, मीमासा इत्यादि मार्गों का अनुसरण करने वाली इनकी यह शैली स्तुत्य है। महामहिम कवितार्किक शिरोमणि श्री हर्ष की गर्वोक्ति को पण्डितराज जगन्नाथ ने भी सार्थकता प्रदान की है।[2]

अपनी इस अद्वितीय कृति मे पण्डितराज ने 'चित्र मीमासा' जो कि श्रीमदप्पय दीक्षित की रचना है कि जबर्दस्त आलोचना की। इतना ही नहीं जब आलोचना करते–करते उनका मन नहीं भरा तो उन्होने दीक्षित जी की इस प्रौढ कृति के खण्डनार्थ 'चित्र मीमासा खण्डन' नामक ग्रन्थ लिख डाला। इसमे इन्होने यत्र – तत्र खण्डन के साथ – साथ विवेक छोडकर अनावश्यक रूप से दीक्षित जी का उपहास भी किया है।

१– अर्द्धमात्रालाघवेनपुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा ।

परिभा० पृष्ठ – १३३

२– साहित्ये सुकुमारवस्तुनिदृढन्यायग्रहग्रन्थिले।

तर्के वा मयि सविधातरि सम लीलायते भारती।।

शय्यावाऽस्तु मृदूतरच्छदवती दर्भाङ्कुरैरास्तृता।

भूमिर्वा हृदयङ्गमो यदि पतिस्तुल्यारतिर्योषिताम्।।

नैषध महाकाव्य पृष्ठ –८

न तो ये वाग्देवता परावतार मम्मट की तरह अल्पभाषी हैं और न विश्वनाथ की तरह विवेचन मे कजूस और न ही दीक्षित की तरह वाणी मे एक देशीय। पण्डितराज का तो जैसे विवेचन सर्वोत्कृष्ट है उसी तरह काव्य के क्षेत्र मे भी इनकी ऐसी देन है जिसका कवि हृदय पाठक मुहुर्मुहु रसास्वादन करता है।

'रस गङ्गाधर' की शैली अतीव स्फीत एव सहृदहारिणी है। वक्तव्य विषय का प्रतिपादन इन्होने स्पष्ट, सारगर्भित, प्रौढ और मधुर ढग से प्रतिपादित किया है। पण्डितराज ने प्राचीनो की तरह व्याख्या को अस्पष्ट नहीं, अपितु कारिका इत्यादि मे भी कथनीय विषय का सफल स्पष्ट प्रतिपादन किया है।

मा सरस्वती के दो स्तन के रूप मे सङ्गीत और साहित्य की कल्पना मनीषियो ने की है।[1] जिसमे साहित्य शास्त्र की आलोचना को प्राण कहा गया है। इसकी जितनी ही आलोचना होती है वह उत्तरोत्तर मर्मस्पर्शी और फलीभूत होती चली जाती है। 'रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थ मे जो – जो साहित्य शास्त्र के विषय प्रतिपादित है वे पूर्व की अपेक्षा अतीव विशद, अव्याप्ति, अतिव्याप्ति और असम्भव इन तीनो दोषो से रहित है। इस ग्रन्थ का निर्माण इस मनीषी ने चूकि पूर्व की उठायी गयी आपत्तियो और कमियों को लेकर किया है। अत एक भी पद संदिग्ध न्यून, वा अधिक नहीं है। कवि ने रसगङ्गाधर के मङ्गलाचरण, के प्रारम्भ मे यह प्रतिज्ञा की है कि पूर्व ग्रन्थो का अनुशीलन करने के उपरान्त ही हमने

१– साहित्यमथसङ्गीत सरस्वत्यास्तनद्वयम्।

एकमापातमधुरमन्यदालोचनाऽमृतम। सुरभारती पत्रिका पु० ६५ १९७२

यह ग्रन्थ लिखा है जिसे कोई भी दोष खोजने पर भी न मिले। बल्कि पुराने अन्य ग्रन्थ निष्प्रभ हो जावेगे। आचार्य मम्मट और विश्वनाथ द्वारा अभिमत सर्वथा निर्दुष्ट काव्य लक्षण भी पण्डित राज के द्वारा दोष युक्त कर दिया गया। रस निरूपण के समय इन्होने 'समस्त शास्त्रो का सार साहित्य है' यह स्पष्ट रूप से प्रदर्शित करते हुये अभिनव नाट्य शास्त्र के उपस्थापित मत और दार्शनिक सिद्धान्तो का जैसा प्रौढ और परिष्कृत विवेचन प्रस्तुत किया है। जिससे समस्त विवेचक, शास्त्र, मर्मज्ञ और गुणमात्र का पक्ष लेने वाले विद्वज्जन आश्चर्य चकित हो जाते हैं।

इन्होने उपमालड्कार के प्रसड्ग मे स्वय पूर्व सभी लक्षणो को आलोचना की कसौटी पर कसा है। इन्होने अप्पय दीक्षित के उपलमालक्षण को प्रबलतम शास्त्र प्रमाणो से निरस्त कर दिया।[2] उपमालड्कार जब अर्थालड्कार है तब शब्द वाचकता आपेक्षित है। वर्णन जब अलड्काररूप है तब स्वय शब्द रूप वर्णन शब्द वाच्य कैसे हो सकता है? इसी तरह विद्यानाथ के द्वारा कथित उपमालक्षण भी पण्डित राज के द्वारा निरस्त कर

१– निग्ननेन क्लेशैर्मननजलधेरन्तरूदर ।

मयोन्नीतो लोके ललितरसगड्गाधरमणि ।।

हरन्नन्तर्ध्वान्तहृदयमधिरूढो गुणवता।

मलड्कारन्सर्वानपि गलितगर्वान् रचयतु।

रस० १/४

२– उपमितकियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमदुष्टमड्ग्यमुपमालड्कार –

चित्र पृ० – ७८

दिया गया।[1] इसी तरह वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का भी उपमालङ्कार लक्षण रमणीय नहीं है 'साधर्म्यमुपमाभेदे' काव्य प्रकाश कार के इस लक्षण का भी उन्होने प्रबल तर्कणा से खण्डन किया है। जिसे प्रसङ्गानुसार आगे के अध्यायो मे व्याख्यायित किया जायेगा। अलङ्कार सर्वस्वकार के उपमा लक्षण को निरस्त कर दिया।[2] रत्नाकरोक्त उपमा लक्षण असमीचीन है। श्लेष मूलक उपमा मे श्लिष्ट शब्द रूप धर्म कवि की ही कल्पना है।[3] इस प्रकार सभी लक्षणो का निरसन करके 'सादृश्यसुन्दरवाक्यार्थोपस्कारकमुपमालङ्कृति' रसगङ्गाधर मे यह उपमा लक्षण उन्होन सहृदय जनो के सम्मुख स्थापित किया।

सस्कृत साहित्यकाश मे परिण्डतराज का यह महत्वपूर्ण वैशिष्ट्य है कि उन्होने अपने द्वारा निर्मित लक्षणो का उदाहरण भी स्वय का ही दिया है। सस्कृत साहित्य मे ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलता, यहाँ तक कि वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट् आचार्य कुन्तक, दीक्षित या अन्य जो भी विद्वान साहित्य मे काव्य शास्त्री हुए वे सभी उदाहरण के लिए परमुखापेक्षी हुए।

१– स्वत सिद्धेन भिन्नेन सम्मतेन च धर्मत ।

साम्यमन्येन वर्णस्य वाच्य चेदेकदोपमा।।

रसङ्गाधर पृ० १६२

२– उपमानापमेययो साधर्म्ये भेदाभेदतुल्यत्वे उपमाअलङ्कार ।

स०सू० ११ पृष्ठ ३६

३– उपमानोपमेयस्य सादृश्यमुपमा – अल० रत्ना० सू० ७ प्रसिद्धगुणेनोपमानेन अप्रसिद्धगुणस्योपमेयस्य सादृश्यहेतुनागुणादिना धर्मेण साधर्म्यप्रतिपादनमुपमा तत्रैव वृत्ति ।

हुये।

वाग्देवतावतार काव्य प्रकाश कार आचार्य मम्मट ने अपना सर्वमनोहारी लक्षण तो प्रस्तुत किया है किन्तु दुर्भाग्यवश उन्हे दूसरों द्वारा अनुचित अप्रासङ्कि उदाहरण को भी न चाहते हुये भी विवशतावश स्वीकार करना पडा। पण्डितराज के समक्ष वाग्श्री मानो नत मस्तक होकर दौडती हुयी इस तरह आती है कि कवि ने उपस्थित विषय चाहे वह कितना भी दुरूह क्यो न हो उसे सरल एव मनमुग्धकारी बना ही दिया।[1] किन्तु काव्यप्रकाश कार ने रति, सम्भोग श्रङ्गार और उन्मत्त देवता विषयक वर्णन समीचीन नहीं है उनका वर्णन पिता –माता के सम्भोग के वर्णन की तरह अनुचित है। इस अनुशासन से बधे होने पर भी प्रतीयमान व्यग के सम्बन्धासम्बन्ध रूप उदाहरण काव्य प्रकाश मे पचम उल्लास मे श्लोक सख्या १३७ पृ० २५२ पर इस प्रकार दिया है –

विपरीततरेलक्ष्मी ब्रह्माण दृष्टवा नाभिकमलस्थम्

हरेर्दक्षिणनयनरसाकुला झटिति स्थगयति।

काव्य प्रकाश – ५/१३७

उपर्युक्त पद्य मे कवि ने कवित्व शक्ति के अभाव मे तथा दूसरा समीचीन उदाहरण न मिल पाने के कारण विवश होकर अपने अनुशासन को तोड दिया।

१– निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूपकाव्यमयात्र निहित न परस्य किचित्।

कि सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्ध. कस्तूरिका जननृशक्तिभृता मृगेण।।

रस० – १/५

पण्डितराज का पाण्डित्य अतीव गम्भीर, प्रौढ़ और समस्त शास्त्रो के अध्ययन स्वरूप परिपक्व हो चुका था। नव्य न्याय शैली का अनुसरण करने से 'रसगड्गाधर' नामक ग्रन्थ साहित्यिको के लिये दुष्कर भले हो गया हो किन्तु तत्कालीन वाद-विवाद के युग मे सस्कृत वागमय की वह शैली पाण्डित्य की प्रतिष्ठानुकूल ही सिद्ध हुयी। आज भी वाद - विवाद की स्थिति मे इस शैली को प्रौढ पाण्डित्यानुकूल माना जाता है। परस्पर प्रतिस्पर्द्धा की अग्नि से जलते हुये पण्डितराज को वह शैली अपनानी ही पडी। ऐसा मेरा मानना है।

सरस, ललित, कलित, कोमल कान्त पदावली रूप साहित्य शास्त्र मे पण्डित लोग सरलतया प्रवेश कर लेते हैं। किन्तु पण्डितराज ने जिस प्रौढ, परिष्कृत शैली का अनुगमन किया, वह सबके वश की बात नहीं। व्याकरण शास्त्र मे प्रौढ व्यक्ति तथा उपनिषदों मे पारड्गत व्यक्ति ही उनके ग्रन्थ का वास्तविक अधिकारी है ऐसा अभिमत प्रकट करते हुये उन-उन शास्त्रो के उदाहरण दिये हैं।[2] अलड्कारो में मार्मिक शाब्द बोध के प्रसड्ग

१- क-सादृश्य मात्रयद्युपमातर्हि 'कालोपर्सजने चतुल्यम्' इत्यादावप्युपमा स्यात्। रस०उपमा वृ० पृ० ०६, पाणिनि सूत्र - १/२/४६

ख- 'भावप्रधानमाख्यातम्'

रस० उत्प्रेक्षा - पृ० ३६३

२- नानार्थनिरूपण प्रसड्गे योगशक्त्या न सर्वत्राऽथरित्यस्मिनप्रसड्गे ईशानो भूत भव्यस्य स एवाद्य स उश्व इति वेदाना वाक्ये किमैश्वर्य विशिष्ट कश्चिजीवोऽत्र प्रतिपाद्यते उतेश्वर इति सशये जीव एवेति पूर्व पक्षे च शब्दादेव प्रमित। रस गड्गाधर पृष्ठ - १४५

मे दर्शन की जो सरस धारा इस कवि ने प्रवाहित की है वह इनके दर्शन के पाण्डित्य का सूचक है। जहा तक इनके दार्शनिकता की बात है वह इन्होंने नव्य न्याय पक्ष का अनुगमन किया है, यद्यपि मीमासा दर्शन का भी यत्किचित पुट यत्र–तत्र उदाहरणो के माध्यम से कवि ने प्रदर्शित किया है। प्राचीन लक्षणकारो ने जहा व्याकरण के अड्गभूत रूप से साहित्य शास्त्र को[1] स्वीकार किया है और उसका प्राधान्य[2] भी अपने–अपने ग्रन्थों मे मुक्त कण्ठों से स्वीकृत किया है किन्तु रसगड्गाधर के प्रणेता ने व्याकरण शास्त्र के महत्व को स्वीकार तो किया किन्तु साहित्य शास्त्र को स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे स्थापित करने का श्रेय इन्हीं को जाता है। 'न च वैयाकरण मत विरोधो दूषणमिति वाच्यम्, स्वतन्त्रत्वेनालड्कारिक तन्त्रस्य तद्विरोधस्यादूषणत्वात् रस० उत्प्रे० पृ० ३०० द्रष्टव्य है।

पण्डितराज की आलेचना रूप जो पद्धति है वह यथार्थ वाद पर आधारित है जबकि दीक्षित की आलोचना जातीय वैमनष्य को लेकर होने के कारण दोष जन्य और न्यायोचित नहीं है। यही कारण है कि इनके विषय में खण्डन – मण्डन की आवश्यकता बलवती है। जहा तक अन्य पूर्ववर्ती आचार्यो यथा वाग्देवतावतार मम्मट और ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धन का प्रश्न है उनके विषय मे पण्डितराज द्वारा समुचित सम्मान प्रदर्शित किया गया है। मम्मटाचार्य के मत की यत्र – तत्र समालोचना तो दिखायी पडती है किन्तु आनन्द वर्धन के विषय मे यथार्थवाद की परम्परा

---

१ इदमुत्तमतिशयिनी व्यडग्ये वाच्यात् ध्वनिबुधै कथित – का पृ० ४

२ प्रथमो कि० विद्वास वैयाकरणा· व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।

ध्वन्या० – १/१६ का०वृ०

का ही इन्होने अनुसरण किया है। अमरूक कवि के विषय मे प्रशस्ति गान किया है।[1] किन्तु पण्डितराज ने इसमे भी निर्माण सामग्री का दारिद्रय है ऐसा कहकर अपना वैमत्य प्रदर्शित किया है।[2] पण्डितराज ने यत्र – तत्र कविकुल गुरू कालिदास के पुराणमित्येव[3] श्लोक को प्रतिनिधि बनाकर अपने अनुरूप आलोचना पथ का निर्माण किया आज भी सुधीजन वाद – जल्प, वितण्डादि का अनुगमन करके जिस तरह अपने पक्ष को रखते है और परपक्ष का खण्डन किया करते है उसी तरह पण्डितराज ने भी दीक्षित के मत की आलोचना की है। किन्तु पण्डितराज का वैशिष्ट्य इस बात को लेकर है कि उन्होने प्रत्यक्ष खण्डनार्थ जिस आलोचना पद्धति का अनुगमन किया वह पद्धति अतीव मनोहर, सर्वशास्त्रज्ञानजनिका और सहृदय हृदयहारिणी है। इसी कारण से विद्वज्जन तन्मय होकर उनकी रसमाधुरी का आनन्द लेते हुए देखे जाते है। बात चाहे जो भी हो, यह तो मानना ही पडेगा कि पण्डितराज जगन्नाथ जैसे अप्रतिम कवि एव दार्शनिक की ही यह कुशलता का नमूना है कि पाश्चात्य विद्वानो ने इनकी भूरि – भूरि प्रशसा की है। ए०बी० कीथ और काणे जैसे पाश्चात्य

---

१ यथा ह्यमरूकस्य कवेर्मुक्तका श्रृगाररसस्यन्दिन प्रबन्धायमाना प्रसिद्धा एव – ध्वन्या ०३/६३ का०वृ०

२ कवेर्निर्माणसामग्रीदारिद्रयप्रकाशयति।
शून्यवासगृहमित्यादिश्लोके रस० १/७४

३ पुराणमित्येव न साधु सर्वम न चापि काव्य नवमित्यवद्यम्।
सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढ परप्रत्ययनेयवुद्धि ।।
माल०वि० – १/२

मनीषियो ने इनकी मुक्त कण्ठ से प्रशसा करते हुए इनको सस्कृत साहित्य के अन्तिम कवि के रूप मे प्रस्तुत किया है।[1] यही बात ए०बी० कीथ ने भी कही कि 'पण्डितराज सस्कृत साहित्यस्य अन्तिम कविरासीदिति।''

सस्कृत साहित्याकाश मे विशेषकर अलकार शास्त्र मे आलकारिको की बात चलने पर भरत, वर्धनाचार्य, अभिनव गुप्त एव वाग्देवतावतार मम्मटादि को प्रथम श्रेणी मे रखा जाता है और वस्तुत इन सभी का कार्य ऐसा है भी कि इन्हे इस कोटि मे रखना समीचीन ही है ऐसा कार्य पण्डितराज इत्यादि का तो नहीं ही है किन्तु पण्डितराज की समीक्षा पद्धति को यदि सामने रखा जाय तो इनका कार्य किसी भी दृष्टि से न्यून नहीं कहा जा सकता है।

जहा भरत जैसे आचार्य ने रस सिद्धान्त की स्थापना किया, वर्धनाचार्य ने ध्वनिवाद के वृक्ष का आरोपण किया, अभिनव गुप्त ने रस सिद्धान्त मे दार्शनिकता का पुट देकर उसे पुष्पित – पल्लवित किय और मम्मटादि ने उसे व्यवस्थित रूप देकर एक सुव्यवस्थित रूप दिया, वैसा पण्डितराज ने भले ना किया हो यह बात जितनी सत्य है यह बात भी उतनी ही सत्य है कि उनके बिना सस्कृत साहित्य अधूरा ही रहेगा। यदि यह कहा जाय कि जैसे अभिनव गुप्त के बिना भरत का कार्य साहित्य के क्षेत्र में इतिहास बनकर रह जाता, उसी तरह यह भी कहना समीचीन

---

१ History of Sanskrit poetics - Rasgangadhar - This is a standard work poetics particularly on a alnkaras Jagnnath is the last great write on Sanskrit Poet (P V Kane M A D Litt ,) रस भूमिका पुरुषोत्तम शर्मा सस्करण।

ही होगा कि भरत के आदर्श सिद्धान्त की पूर्ण रूपेण यदि कोई रक्षा कर सका है तो वह अभिनव गुप्त ही हैं। दर्शन को साहित्य के क्षेत्र मे विधिवत स्थापित करने का श्रेय अभिनव गुप्त जैसे आचार्य को है जिन्होने रस सिद्धान्त की शैवदर्शनानुसारिणी व्याख्या किया। इन्ही के मार्ग का अवलम्बन करते हुये पण्डितराज ने वेदान्त दर्शन के पथ का अनुगमन करके रस सिद्धान्त की अद्वैत वेदान्तानुसारिणी व्याख्या विधिवत प्रस्तुत किया। इस तरह साहित्य के क्षेत्र मे दर्शन के आ जाने से नवीनता सी आ गयी। एक बात जो इनके विषय मे कहना अतिशयोक्तिपरक नहीं होगी वह यह है कि सब जगह काव्य मे दर्शन की व्यवस्थानुसार व्याख्या करने के बावजूद भी कहीं पूर्ववर्ती विद्वज्जनो जैसा अतिकष्टप्रद और दुष्करता नहीं है। इन्होने स्पष्ट पद विन्यासो से युक्त मनोहारिणी व्याख्या और स्वनिर्मित उदाहरणो से अपने मत का प्रतिपादन किया है।

वाग्देवतावतार मम्मट का मत भी जहां – तहा सदिग्ध है टीकाकार भी उसका (सदिग्ध) आश्रय नहीं ग्रहण करते है किन्तु यदि कहा जाय कि पण्डितराज की व्याख्या से मम्मट का महत्व और अधिक बढ गया क्योकि इनकी स्पष्ट प्रतिपादन शैली से हस्तामलकवत् व्याख्या स्पष्ट होती चली गयी जिससे रच मात्र भी सदेश का अवकाश नही है। अत इन सभी दृष्टियो से पण्डितराज को साहित्य के क्षेत्र मे आचार्य की प्रतिष्ठा प्राप्त हुयी।

इन सभी गहन पर्यालोचनो से यह तथा उभरकर निकर्ष के रूप मे आता है कि पण्डितराज गम्भीरता की साक्षात् प्रतिमूर्ति, साहित्य के क्षेत्र मे दर्शन के व्यवस्थापक और भावुकता के अनन्य उपासक, सर्वविधकाव्य निर्माण शक्ति सम्पन्न और विषय प्रतिपादन के अवगाहन मे कुशल थे।

पण्डित राज ने रसगङ्गाधर ग्रन्थ के प्रारम्भ मे अपना अभिप्राय प्रकट किया है।[1] पण्डितराजजगन्नाथ के द्वारा साहित्य के क्षेत्र मे बहुत से नियम प्रतिपादित और स्थापित किये गये, जो कि आने वाली पीढियो के लिये प्रकाश स्तम्भ का कार्य करते रहेंगे। श्रृगारादियो मे नवीन सरस रचनाये भी प्रस्तुत की गयी। अत निष्कर्ष रूप मे यह कहा जा सकता है कि पण्डितराजजगन्नाथ प्रतिभाशालियो मे चूणामणि थे।
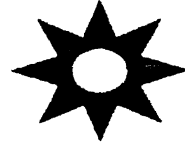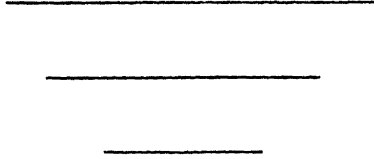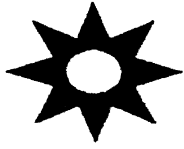
१— रसगङ्गाधर नामा सन्दर्भोऽय चिर जयतु।

किन्च कुलानि कवीना निसर्ग सम्यचिरन्जयतु।।

रस० – १/८२ श्लोक

द्वितीय अध्याय

प्राचीनकाल मे काव्य शास्त्र को मुख्य रूप से काव्यालङ्कार ही कहा जाता था। काव्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ काव्यालङ्कार भामहकृत, उद्भट्टकृत काव्यालकार सार सग्रह एव रूद्रट का ग्रथ काव्यालङ्कार, वामनकृत काव्यालङ्कार सूत्र इत्यादि ग्रन्थ काव्य शास्त्र के ही उदाहरण हैं।

वामन ने 'सौन्दर्यमलङ्कार'[1] तथा अन्यो ने भी "काव्यशोभाकरान्धर्मान् अलङ्कारान प्रचक्षते[2]" कहकर लक्षणा से काव्यालङ्कार का अर्थ काव्य सौन्दर्य परक शास्त्र है इस अभिमत की पुष्टि की है। इन उपर्युक्त ग्रन्थो मे न केवल अलङ्कारो का चित्रण है, अपितु सौन्दर्य बोधक गुण, दोष, रीति इत्यादि जिन भी तत्वो की आवश्यकता होती है उन सभी का प्रतिपादन इसमे निहित है। कालान्तर मे छत्रिन्याय से काव्यालङ्कार शब्द के स्थान पर अलङ्कार शास्त्र का प्रयोग होने लगा। प्रतापरूद्रीय टीकाकार ने पृष्ठ – ३ पर छत्रिन्याय से काव्यालङ्कार के स्थान पर काव्य शास्त्र को अलङ्कार शास्त्र यह नाम दिया है।[3] किन्तु काव्यालङ्कार शास्त्र नाम देना इसलिये उचित नहीं लगता क्योकि काव्य का आत्मा अलङ्कार नहीं है वह तो रस हैं। कटक कुण्डलवत् अलङ्कार उत्कर्षाधायक तो हो सकते हैं, जीवनाधायक नहीं। जिस प्रकार

१– काव्यालङ्कार सूत्र १ – २

२– काव्यादर्श २ – १

३– यद्यपि रसालङ्काराद्यनेकविषयमिद शास्त्र तथापि छत्रिन्यायेन अलङ्कारशास्त्रमुच्यते।

प्रताप रूद्रीय टीका पृष्ठ – ३

शरीर का जीवनाधायक तत्व आत्मा है उसी प्रकार काव्य का जीवनाधायक तत्व रस है। अत अलङ्कार शास्त्र को सौन्दर्य शास्त्र या काव्य सौन्दर्य शास्त्र मानना ही अधिक युक्ति सङ्गत लगता हैं। विधि–प्रतिषेध रहित होने पर भी किसी गूढ तत्व का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ को शास्त्र कहते हैं। अत इसी अर्थ मे काव्य के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग युक्ति जान पडता है।

मुख्य रूप से ग्यारहवीं शताब्दी मे 'सरस्वती – कण्ठाभरण के रचियता भोज देव ने इस शास्त्र के लिये काव्य शास्त्र पद का प्रयोग किया है।[1] भोजदेव के मत मे विधि और निषेध की व्युत्पत्ति अर्थात् ज्ञान के कारण छ हो जाते हैं।

१–	काव्य	२–	शास्त्र
३–	इतिहास	४–	काव्य शास्त्र
५–	काव्येतिहास	६–	शास्त्रेतिहास।[2]

काव्य के साथ शास्त्र जोडकर उन्होने उसकी गौरव वृद्धि तो की हैं। किन्तु, काव्य के आत्मा को वे विस्मृत कर गये। "अत शसनात् शास्त्र" से ही गौरव वृद्धि तथा आत्मा को बचाया जा सकता है।

काव्य शास्त्र के लिये एक अन्य शब्द साहित्य का प्रयोग भी किया जाता है, जो कि आचार्य विश्वनाथ की देन मानी जा सकती हैं। आचार्य

१– यद्विधौ च निषेधे च व्युत्पत्तेरेव कारणम्।
तदध्येय विदुस्तेन लोकयात्रा प्रवर्तते।
सरस्वती कण्ठाभरण पृ० २/१३८

२– काव्य शास्त्रेतिहासौ च काव्यशास्त्र तथैव च।
काव्येतिहास शास्त्रेतिहासस्तदपि षड्विधम्।
सरस्वती कण्ठाभरणम् २/१३६

विश्वनाथ कृत साहित्यदर्पण के पूर्व ग्यारहवीं शताब्दी के साहित्य मीमासाकार रूय्यक ने भी साहित्य का प्रयोग किया हैं। किन्तु इस ग्रन्थ को अप्रतिम प्रसिद्धि न मिलने के कारण साहित्यदर्पणकार को ही इसका श्रेय जाता हैं।

भामह को ही साहित्य शब्द के प्रयोग का आदि प्रवर्तक माना जा सकता हैं, इनको 'शब्दार्थो सहितौ काव्यम् यह काव्य लक्षण दिया। वक्रोक्ति जीवितकार ने 'साहित्य शब्द के अभिप्राय को और भी स्पष्ट किया। इनके अनुसार शब्द और अर्थ दोनो के मजुल सन्निवेश का ही नाम साहित्य है।[1] कालान्तर मे नवम् शताब्दी मे काव्य मीमासाकार राज शेखर ने ही पचमी 'साहित्यविद्या इति यायावर्य ' लिखकर इसे साहित्य विद्या या साहित्य शास्त्र का नाम दिया।[2] इसके अतिरिक्त इस शास्त्र के लिये क्रियाकल्प का प्रयोग भी मिलता है।[3] साहित्य शास्त्र के उद्‌गम के विषय मे राजशेखर ने अपनी 'काव्य मीमासा' मे एक पौराणिक आख्या प्रस्तुत की है, वह भले ही प्रामाणिक तत्वो से रहित हो, किन्तु उसके महत्व को स्वीकार तो करना ही पडता है।[4]

१— साहित्यमनयो शोभा शालिता प्रति काप्यसौ।

अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थिति ।।

वक्रो० १/१७

२— काव्य मीमासा, पृष्ठ — ४

३— क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान्"

४— अथात काव्य मीमासिष्यामहे यथोपदिदेश श्रीकृष्ण ————

अष्टादशाधिकरणी प्रणीता। काव्य मीमासा — पृष्ठ — ३—४

साहित्य शास्त्र का वेदो से भले ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध न हो किन्तु सर्व विद्याओ के मूल होने से वेदो के अध्ययन से यह तथ्य भली भाति उभरकर सामने आता है कि वेद देवो के अमर काव्य कहे गये हैं और इसमे सत्यता भी हैं।[1] वेद के निर्माता के रूप मे परमपिता परमात्मा को 'कवि' इस रूप मे कई बार अभिव्यक्त किया गया हैं। वेद स्वय काव्य रूप है और उनमे काव्य का सम्पूर्ण सौन्दर्य पाया जाता हैं। काव्य सौन्दर्याधायक जिन गुण रीति अलङ्कार ध्वनि आदि तत्वो का विवेचन लक्षणकारो ने किया है सब मूल रूप मे वेदो मे उपलब्ध हैं। माधुर्य, ओज और प्रसाद तीनो गुण यहा पाये जाते हैं ओर इनके आधार पर ही रीतियो का निर्धारण होता है अत रीतियो के उदाहरण भी वेदो मे विद्यमान हैं। उपमा और रूपक का नया जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत किया गया है की झाकी तो देखिये –

उतत्व पश्यन् न ददर्श वाच उतत्व श्रृण्वन् न श्रृणोत्येनाम्।

उतोत्वस्मै तन्व विसस्रे जायेव पत्ये उषती सुवासा।।[2]

अर्थात् कुछ लोग ऐसे है जो देखते हुये भी वाणी के स्वरूप को नहीं देख पाते हैं और सुनकर भी उनको सुन नहीं पाते हैं। सुन्दर और प्रसाद गुण युक्त इस मनोहारी उदाहरण के माध्यम से क्या विरोधाभास दिखाया गया है। आगे कहा कि तीसरे वे लोग है जिनके सामने वाणी अपना सारा सौन्दर्य इस प्रकार खोलकर रख देती है जैसे नूतन सुन्दर परिधानो मे अलङकृत प्रेयसी अपने प्रेमी (पति) के सामने अपने

१– देवस्य पश्य काव्य न ममार न जीर्यति।

२– ऋग्वेद – १० – ७१ – ४

सौन्दर्य को प्रस्तुत कर देती है। यह उपमा साहित्यशास्त्र मे अन्यत्र ढूढे नहीं मिलेगी। क्या अनूठी कल्पना हैं? इसी तरह दर्शन शास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन भी जगह–जगह पर मिलता है।[1]

रूपक अलकार के माध्यम से ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीनो तत्वो को दो पक्षियो और एक वृक्ष के रूप मे प्रदर्शित करते हुये व्यक्त किया गया है। दो सुन्दर पखो वाले, साथ रहने वाले और मित्र रूप पक्षी हैं वे दोनो पक्षी एक समान वृक्ष अर्थात् प्रकृति पर अवलम्बित हैं। उन दोनों मे से एक जीव उस वृक्ष के फलो को खाता है। (अर्थात् जीवात्मा अपने कर्मानुसार फलो का भोग करती है) दूसरा पक्षी अर्थात् परमात्मा फलो का भोग न करता हुए ससार मे चारो ओर अपने प्रकाश को (सौन्दर्य को) फैला रहा हैं। इसमे अनुप्रास, विभावना दोनो ही अलकार हैं। इस तरह सैकडो ऐसे मन्त्र हैं जिनमे साहित्य शास्त्र के मौलिक तत्वो का सुन्दर समावेश हैं। अलकार शास्त्र की प्राचीनता तो वेदो, ब्राहमण और आरण्यक ग्रन्थो तक मे मिलती हैं। अत राज शेखर ने अलकार शास्त्र की श्रेष्ठता को स्वीकार किया हैं।[2] अग्नि पुराण मे दृश्य काव्य एव श्रव्य

१– द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

२– उपकारकत्वादलङ्कार सप्तमङगमिति यायावरीय ऋते च तत्स्वरूप परिज्ञानादेवार्थानवगति ।

काव्य मीमासा पृ० – १२ / ३ख – पचमी

साहित्य विद्येति यायावरीय। सा च चतसृणामपि विद्याना निष्यन्दरूपा। तत्रैव पृ० – १८

काव्य की चर्चा की गयी है, किन्तु आधुनिक विद्वान इस विषय मे एकमत नहीं है।[1] इसलिये साहित्यशास्त्र मे 'नाट्यशास्त्र' को जो कि आचार्य भरत प्रणीत है को सभी ग्रन्थो मे प्राचीन माना गया हैं। इसके अनुसार आचार्य भरत द्वारा चारो वेदों से सार भाग लेकर पचम वेद, नाट्य वेद की रचना शूद्रो तक को भी नि श्रेयस का पात्र बनाने हेतु की गयी।[2] इसके बाद कश्यप, वररूचि आदि ने भी आलङ्कारिक ग्रन्थ बनाये। काव्यादर्श के श्रुतानुपालिनी टीका मे भी दण्डी के पूर्व आलङ्कारिकों मे कश्यप ब्रहमदत्त, नन्द स्वामी इत्यादि के नामो का उल्लेख तो है, किन्तु इनके द्वारा निर्मित ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं है। रूद्रदामन के शिलालेख की भाषा अलङ्कारपूर्ण नहीं हैं, किन्तु अलङ्कार शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तो का निर्देश है। व्याकरण शास्त्र के प्रणेता पाणिनि[3] पूर्ववर्ती यास्क के निरूक्त[4] तथा गार्ग्य के गर्ग सहिता में[5] तथा यही नहीं उपनिषदो मे भी अलङकार का उदाहरण प्राप्त होता है।[6] जोकि अलङ्कार

१— पुराण विमर्श पृ० ५५२ (आचार्य बलदेव उपाध्याय)

२— जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामेभ्यो गीतिमेव च

यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।। नाट्यशास्त्र १/७७

३— पाराशर्य शिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयो अष्टा ४/३/११०

कर्मन्दकृशाश्वादीनि — तत्रैव ४/३/१११

४— यथावासो यथावन यथा समुद्र सृजति नि० ५/७८/८

५— उपमा यत् अतत तत्सादृश्यम् गर्ग सहिता

६— आत्मान रथिन विद्धि शरीर रथमेवतु

बुद्धि तु सारथि विद्धि मन प्रग्रहमेव च।। कठोपनि०—

शास्त्र की प्राचीनता को ही सिद्ध करता है।

वैदिक साहित्य से लेकर विक्रम से लगभग ५०० वर्ष पूर्व पाणिनि के काल तक अलङ्कार शास्त्र पर भले ही अलङ्कार शास्त्र के मौलिक तत्वों का प्रतिपादन किया गया हो किन्तु, उसका सुश्लिष्ट शास्त्रीय निरूपण मुख्यत भरतमुनि से प्रारम्भ होता है। इनके द्वारा साहित्यशात्र क्षेत्र के समस्त विषयो का सम्यक् विवेचन प्राप्त होता है। इस समय को हम प्रारम्भिक काल के नाम से जान सकते हैं।

द्वितीय काल अलङ्कार सम्प्रदाय के उद्भावक एव पृष्टपोषक के रूप मे भामह, दण्डी, रूद्रट इत्यादि आचार्यों का नाम लिया जा सकता है। इसी बीच रीति सम्प्रदाय की भी स्थापना हुयी। यह काल मुनि भरत से लेकर आनन्द वर्धन पर्यन्त जाता है।

तृतीय काल आनन्द वर्धन से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक का है।

चतुर्थकाल को पण्डितराज से लेकर विश्वेश्वर पण्डित तक माना जा सकता हैं। इस काल विभाग को हम इस तरह रेखाकित कर सकते हैं–

१– प्रारम्भिक काल – ई०पू० से मुनि भरत पर्यन्त

२– द्वितीय काल – मुनि भरत से लेकर आनन्दवर्धन तक

३– आनन्दवर्धन से लेकर पण्डितराज पर्यन्त

४– पण्डितराज से विश्वेश्वर तक

आचार्य विश्वेश्वर ने इस काल विभाग को अन्य तरह से प्रस्तुत किया है जो कि साभार प्रस्तुत है –

प्रारम्भिक काल – अज्ञात काल से प्रारम्भ होकर सत्रहवीं शताब्दी के भामह तक का है। इस मे मुख्य रूप से भरत और भामह दो आचार्यों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भरत के नाट्य शास्त्र मे जो भी विवेचन है, वह सब मूलभूत है, बीजभूत है। भरत के बाद मेधावी रूद्र आदि टीकाकार तो है किन्तु उनके ग्रन्थ दुर्भाग्य से उपलब्ध नहीं है। भामह ने अपने काव्यालड्कार मे भरत से हटकर ३८ स्वतन्त्र अलड्कारो का विवेचन किया है।

रचनात्मक काल – यह काल भामह से लेकर आनन्दवर्धन तक फैला हुआ है। इसे साहित्य शास्त्र मे यदि स्वर्ण युग के नाम से कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। साहित्य शास्त्र के समस्त सम्प्रदाय, अलड्कार सम्प्रदाय रीति सम्प्रदाय, रस सम्प्रदाय, ध्वनि सम्प्रदाय इसी काल की देन हैं। इनके आचार्य निम्नवत् हैं –

१– अलड्कार सम्प्रदाय – भामह, उद्भट, रूद्रट

२– रीति सम्प्रदाय – दण्डी, वामन

३– रस सम्प्रदाय – लोल्लट, शड्कुक, भट्ट नायक

४– ध्वनि सम्प्रदाय – आनन्दवर्धनाचार्य

अलड्कार सम्प्रदायवादी आचार्य जैसे भामह, उद्भट, रूद्रट आदि जहा एक तरफ काव्य के वाह्य अलड्कारो का निरूपण करते हैं, वहीं दण्डी और वामन ने काव्य के रीति और गुणो की व्याख्या की। लोल्लट, शड्कुक और भट्टनायक ने आचार्य भरत के रस सिद्धान्त की जहा व्याख्या की, वहीं आचार्य आनन्दवर्धन ने 'काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य· समाम्नात् पूर्व' कहकर ध्वनि सिद्धान्त की अपने प्रबल तर्कणा से स्थापना किया।

निर्णयात्मककाल – यह महत्वपूर्ण काल आनन्दवर्धन से लेकर आचार्य मम्मट तक का काल है जो कि स्वर्ण युग की चरम परिणति कही जा सकती है। इस युग के सुप्रसिद्ध आचार्य लोचन एव अभिनव टीकाकार अभिनव गुप्त, वक्रोवित्तजीवित के प्रणेता आचार्य कुन्तक, व्यक्ति विवेककार महिमभट्ट आदि है। इनमे से जहा तक कुन्तकाचार्य वक्रोक्ति जीवित ग्रन्थ के माध्यम से वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रबल प्रतिपादक हैं वही दूसरी ओर महिम भट्ट का व्यक्ति विवेक ग्रन्थ ध्वनि सिद्धान्त का प्रबल विरोधी ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त धनिक, धनजय आदि भी इसी काल की अनुपम देन हैं।

व्याख्या काल – आचार्य मम्मट से लेकर जगन्नाथ और विश्वेश्वर पण्डित तक का यह काल अति महत्वपूर्ण है। इनके अतिरिक्त हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि ने काव्य का साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया हैं। इस काल के आचार्यों का वर्गीकरण निम्नवत् हैं। जो कि आचार्य विश्वेश्वर ने प्रस्तुत किया हैं।

– ध्वनि सम्प्रदाय	मम्मट, रूय्यक, विश्वनाथ हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव तथा अप्पय दीक्षित आदि
– रस सम्प्रदाय	शारदातनय, शिङ्भूपाल, भानुदत्त, रूप गोस्वामी
– कवि शिक्षा	राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरि सिह, अमर चन्द्र, आदि
– अलङ्कार सम्प्रदाय	पण्डितराज जगन्नाथ, विश्वेश्वर पाण्डेय आदि।

कुछ विद्वानो ने ध्वनि सिद्धान्त को साहित्य शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त स्वीकार किया और इस तरह से उन्होने साहित्यशास्त्र को तीन भागो मे विभक्त किया।

१– पूर्व ध्वनि काल – इसे प्रारम्भ से लेकर आनन्द वर्धन ८०० विक्रमी तक माना जा सकता हैं।

२– ध्वनि काल – इसे आनन्दवर्धन से लेकर मम्मट १००० विकम्र तक माना जाता है।

३– पश्चात् ध्वनिकाल या उत्तर ध्वनि काल – मम्मट से लेकर आचार्य जगन्नाथ १७५० विकम्री तक माना जाता है।

कुछ लोगो ने रस को काव्य की आत्मा कहा तो कुछ ने अलकारो को। किसी ने रीति को आत्मा माना तो किसी ने ध्वनि और वक्रोक्ति को। इस तरह साहित्य शास्त्र मे (१) रस सम्प्रदाय (२) अलड्कार सम्प्रदाय (३) रीति सम्प्रदाय (४) ध्वनि सम्प्रदाय (५) वक्रोक्ति सम्प्रदाय– ये पाच सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं। भरत से लेकर पण्डितराज तक जो स्रोतस्विनी वाग्धारा प्रवाहित हुयी वह इन्हीं सम्प्रदायो मे कहीं न कहीं समाहित है। इसका विवरण अधोलिखित है –

१– <u>रस सम्प्रदाय –</u> आचार्य नन्दिकेश्वर को राजशेखर ने अपने ग्रन्थ काव्य मीमासा मे रस सम्प्रदाय का प्रतिष्ठापक माना, किन्तु इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। अत आचार्य भरत को ही इस सम्प्रदाय का पोषक माना जाता है। "विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पति" "यह प्रसिद्ध सूत्र ही नाट्यशास्त्रकार द्वारा रस सिद्धान्त का प्राणभूत तत्व स्वीकृत किया गया। उत्तरवर्ती आचार्यों ने इसी को आधार मानकर रस की मार्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र के छठें अध्याय में रसो का और सातवे अध्याय मे भावों का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया है, जो कि कालान्तर मे रस सिद्धान्त की आधारशिला बनी।

रस सिद्धान्त के व्याख्याकार के रूप मे भट्टनायक, भट्ट लोल्लट शङ्कुक, अभिनव गुप्त आदि आचार्य प्रसिद्ध है।

अलङ्कार सम्प्रदाय – इसके प्रतिपादक आचार्य भामह हैं इन्होने रस की सत्ता तो माना, किन्तु उसे प्रधान न मानकर अलङ्कार को प्रधानता प्रदान की। इनमे उदभट्ट, दण्डी, रूद्रट, प्रतिहारेन्दुराज तथा जयदेव आदि आते हैं। इन्होने कहा कि अलङ्कार विहीन काव्य की सत्ता वैसे ही नहीं मानी जा सकती जैसे कि उष्णता के अभाव मे अग्नि का अस्तित्व। जयदेव ने अपने चन्द्रलोक मे तो व्यङ्गय के माध्यम से अपनी बात कही –

"अङ्गीकरोति य काव्य शब्दार्थावनलङ्कृती।

असौ न मन्यते कस्मादनुष्णनमनलङ्कृती"

अलङ्कार सम्प्रदायवादियों ने काव्य मे अलङ्कारों की महत्ता को स्वीकार किया तथा रसवत्, प्रेय उर्जस्वित और समाहित इन चार प्रकार के रसवदलङ्कारो मे उनका अन्तर्भाव स्वीकृत किया।

रसवद्दर्शित स्पष्टश्रृङ्गारादि रस यथा–भामह, काव्यालङ्कार ३ – ६

मधुरे रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थिति । दण्डी काव्यादर्श ३ – ५१

<u>रीति सम्प्रदाय –</u> 'रीतिरात्मा काव्यस्य' इस सूत्र के माध्यम से रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य वामन इसके प्रणेता है। "विशिष्टपदरचनारीति" अर्थात् विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। रचना मे माधुर्यादि गुणो का समावेश ही विशेषता है और यही विशेषता ही रीति है। रीति सम्प्रदाय को कहीं–कहीं गुण सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

गुणों तथा अलङ्कारो के विवेचन के प्रसङ्ग मे आचार्य वामन ने "काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा तथा "तदतिशयहेतवस्तवलङ्कारा" इन दोनो सूत्रो के माध्यम से भेद प्रदर्शित किया तथा गुणो को विशेष महत्व दिया। वामनाचार्य ने काव्य में रीति की प्रधानता को स्वीकारा तथा अलङ्कारो को गौण बताया। आचार्य मम्मट ने रीति को 'रीतयोऽवयवसस्थानविशेषवत्' शरीर के अङ्गो की तरह ही माना इससे अधिक कुछ नहीं।

वकोक्ति सम्प्रदाय – 'वकोक्ति काव्यस्य जीवितम्" कहकर आचार्य कुन्तक ने वकोक्ति सम्प्रदाय की स्थापना की तथा रीति सम्प्रदाय ने इस मन्तव्य की "रीति ही प्रधान तत्व है" को नकार दिया। दण्डी ने "भिन्न द्विधा स्वभावोक्तिर्वकोकिक्तश्चेति वाङ्गमयम' तथा वामन ने "सादृश्याल्लक्षणा वकोक्ति' कहकर वकोक्ति के महत्व का प्रतिपादन तो किया किन्तु उन सबके मत से वकोक्ति सामान्य अलङ्कारादिरूप ही हैं। आचार्य कुन्तक ने इसके महत्व का प्रतिपादन किया। वामन की पाचाली, वैदर्भी, गौडी आदि रीतियों को देश भेद के आधार पर न मानते हुये रचना शैली के आधार पर कुन्तक ने वामन की वैदर्भी रीति को सुकुमार मार्ग, गौडी को विचित्र मार्ग तथा पाचाली को मध्यममार्ग नाम दिया।

५– ध्वनि सम्प्रदाय – सभी सम्प्रदायों में ध्वनि सम्प्रदाय सबसे अधिक प्रबल एव महत्वपूर्ण सम्प्रदाय रहा। –"काव्यस्यात्मा ध्वनि" यह कहकर काव्य की आत्मा ध्वनि मानने वाले आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त को स्थापित किया। ध्वनि प्रतिष्ठापक परमाचार्य मम्मट ने प्रबल तर्कणा के माध्यम से सभी विरोधियो का खण्डन किया। विरोधो के बावजूद भी यह ध्वनि सिद्धान्त हीरे की तरह चमकता गया।

काव्यशास्त्र की परम्परा मे आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक जो भी धारा बही है उनका सिहावलोकन आवश्यक हैं–

<u>भरतमुनि –</u> साहित्य शास्त्र के आकाशदीप के रूप मे सबसे प्राचीन आचार्य भरत का नाम सर्वप्रथम सादर लिया जाता है। यहा हमारा तात्पर्य नाट्यशास्त्र के प्रवर्तक भरतमुनि से है। यह कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति है। मत्स्य पुराध के २४ वे अध्याय मे २७ – ३२ वे श्लोक तक भरत – मुनि का पौनपुन्येन उल्लेख किया गया है।

महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' से २–१८ के अन्तर्गत इनको आदर पूर्वक याद किया है –

'मुनिना भरतेन य प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रय प्रयुक्त
ललिताभिनय तमद्य भर्ता मरूता द्रष्टुमना सलोकपाल ।।

—— विक्रमो० २/१८

सस्कृत नाट्य परम्परा मे प्राय सभी नाटको की समाप्ति भरत वाक्य से ही होती है अत 'भरत' किसी काल्पनिक व्यक्ति का नाम न होकर ऐतिहासिक है।

भरतमुनि का एक मात्र गन्थ 'नाट्यशास्त्र' जो कि समस्त कलाओ का विश्वकोष है, न कि केवल नाट्य के विषय का ही विवेचन है, इसका परिचय आचार्य भरत मुनि ने स्वय देते हुये कहा है कि –

"नतज्ज्ञान नतच्छिल्प न सा विद्या न सा कला।
नासौ योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।"

इसे षट्साहस्त्री सहिता भी कहते हैं क्योकि इसमे ६००० श्लोक हैं। सगीत रत्नाकर के लेखक श्री शार्ङ्देव ने भरत के ६ टीकाकारो का उल्लेख किया है –

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुका

भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमान् कीर्तिधरोऽपर ।।"

समालोचना पद्धति के प्रथमावतार के रूप मे आचार्य भरत का नाम अग्रगण्य है। अभिनव भारती मे जहा नाट्यशास्त्र मे ३६ अध्ययाय दिखाये हैं वहीं इसके प्रथम सस्करण मे ३७ अध्याय हैं –

ता एता ह्याचार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यलक्षणत्वेनपठिता । मुनिना तु सुख सग्रहाय यथास्थान निवेशिता इति साम्प्रतिक नाट्यशास्त्र सप्तत्रिशदध्यायेषु विभक्तम, क्वचिच्चषट्त्रिशदध्यायकम्। (नाट्यशास्त्र अभिनव भा० –६)

२– <u>मेधावी –</u> यद्यपि भामह तथा परवर्ती ग्रन्थकारो के द्वारा इनके सिद्धान्तो की चर्चा की गयी है। किन्तु इस अलङ्कारशास्त्री द्वारा लिखित कोई भी ग्रन्थ आज दुर्भाग्य से प्राप्त नहीं है। राजशेखर ने अपनी काव्यमीमासा मे इन्हे जन्मान्ध बताया है –

प्रत्यक्षप्रतिभावत पुनरपश्यतोऽतिप्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरूद्रकुमारदासादय जन्मान्धा 'कवय श्रूयन्ते।' काव्य मीमास पृष्ठ ११–१२

३– <u>भामह –</u> आचार्य भरत के बाद और भामह से पूर्व का अनेको शतक का समय अन्धकारपूर्ण था। इसी कडी मे भरत के अनन्तर काव्यालङ्कार सर्वप्रथम ग्रन्थ है। प्रताप रूद्रभूषण मे विद्यानाथ के द्वारा मङ्गलाचरण मे इनका नाम सादर लिया गया है।[1]

१– पूर्वेभ्यो भामहादिभ्य सादर विहिताजलि ।

वक्ष्ये सम्यगलङ्कार शास्त्र सर्वस्य सग्रहम्।।

– प्रताप –१ / मङ्गलाचरण

ध्वन्यालोक की लोचन टीका मे भी इनके नाम का उल्लेख इनके महत्व को ही प्रतिपादित करता है।[1] काव्य प्रकाशकार ने भी चित्रकाव्य के समर्थनार्थ इन्हीं के वचन का प्रमाण रूप मे उद्घृत किया है।[2] इन्होने अपने ग्रन्थ मे ३८ अलड्कार लक्षणो की रचना की। यही नहीं सभी अलड्कारो मे वक्रोकित ही प्रधान हे। यह स्पष्ट रूप से स्वीकार भी किया। "कोऽलड्कारोऽनया बिना"[3] इन्होने अपने काव्यालड्कार ग्रन्थ मे रीति, गुण, दोष, वक्राक्ति रसवदलड्कारों के आश्रयीभूत रस का विवेचन किया। इन्होने "न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनितामुखम्" कहकर अन्यान्य सिद्धान्तो की भी स्थापना अपने प्रबल तर्कणा के माध्यम से इस ग्रन्थ मे की है। जैसे –

१– शब्दार्थौ काव्यम्

२– भरत प्रतिपादितदशगुणाना माधुर्यादिगुणत्रयेष्वन्तर्भाव

३– वक्रोक्ते समस्तालड्कार मूल भूतत्वम्

४– दशविधदोषाणा सम्यक्तया विवेचनच।

१– ध्वन्यात्मभूते श्रृड्गारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत ।।

ध्वन्या० लोचन २/३८

२– काव्य प्रकाश – ६/४८

३– सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते। तेनात्र यत्न कार्य
कोऽलड्कारोऽनया विना ।

काव्यलड्कार २/८५

भामह के (१) काव्यालङ्कार (२) प्राकृत मनोरमा (३) छन्द शास्त्र विषयक जिसमे दो तो उपलब्ध हैं किन्तु तीसरे का अनुमान किया जाता हैं। प्राकृत मनोरमा प्राकृत प्रकाश की टीका है और काव्यालङ्कार एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। जिसमे छ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद **काव्यशरीर** है। इसमे ६० श्लोक, हैं। द्वितीय और तृतीय परिच्छेद **अलङ्कारवर्णन** विषयक है जिसमे १६० श्लोक हैं। चतुर्थ परिच्छेद **दोषनिरूपण** हैं और इसमे ५० श्लोक है। पचम परिच्छेद **न्याय निर्णय** का है और इसमे ७० श्लोक हैं। षष्ठ परिच्छेद **शब्द शुद्धि** विवेचन का है इसमे ६० श्लोक हैं। भामह ने स्वय इसका विवेचन प्रस्तुत किया है –

षष्ठ्या शरीर निर्णीत शतषष्ठ्या त्वलङ्कृति ।
पचाशता दोषदृष्टि सप्तत्या न्यायनिर्णय ।।
षष्ठ्या शब्दस्य शुद्धि स्यादित्येव वस्तुपचकम्।
उक्त षड्भि परिच्छेद भामहेन क्रमेण व ।।

दण्डी–दण्डी का कार्यकाल अष्टम शताब्दी मे पडता है जिसको उन्होने **अवन्तिसुन्दरी** कथा मे निरूपित किया है। अलङ्कार शास्त्र पर भामह के बाद स्वतन्त्र रूप से इन्होंने ग्रन्थ लिखा है जिसका नाम काव्यादर्श है। "काव्यशोभाकरान् धर्मान लङ्कारान् प्रचक्षते" यह कहकर काव्य शोभाधायक अनेक अलङ्कारो का वर्णन इन्होने किया है और गुणो की विशेष महत्ता प्रदर्शित की। अलङ्कार सम्प्रदायवादी दण्डी ने भामह की समीक्षा भी की है। राजशेखर ने निम्न श्लोक से दण्डी के तीन ग्रन्थे का उल्लेख किया है –

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदा त्रयोदवास्त्रयो गुणा ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुत ।।

दण्डी के ये तीन ग्रन्थ (१) काव्यादर्श (२) दश कुमार चरित

(३) अवन्ति सुन्दरी कथा प्रसिद्ध है।

सस्कृत साहित्य मे दण्डी एक महाकवि के रूप मे प्रसिद्ध हैं –

जाते जगति बाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।

कवी इति ततो व्यासे कवयस्तवयि दण्डिनि।।

उनकी इस प्रसिद्धि का आधार मूल रूप से दश कुमार चरित को जाता है –

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।

दण्डिन पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा।।

काव्यादर्श के प्रथम परिच्छेद मे काव्य का लक्षण, काव्य के विविध भेद, कथा–आख्यायिका का भेद प्रदर्शन और खण्डन तथा अन्त मे कवित्व शक्ति हेतु प्रतिभा श्रुत तथा अभियोग इन तीन गुणो की अनिवार्यता बताई गयी है।

द्वितीय परिच्छेद मे ३५ अलङ्कारो के लक्षण तथा उदाहरण दिये गये हैं।

काव्यादर्श के तृतीय परिच्छेद मे यमक का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत किया गया है। अन्त मे इस प्रकार के दोषो का विवेचन प्रस्तुत है।

<u>भट्टोद्भट या उद्भट –</u> इस अलङ्कार शास्त्री का जन्म कश्मीर मे हुआ था। ये कश्मीर नरेश जयादित्य की सभा के राज पण्डित ही नहीं अपितु सभापति भी थे। इस तरह से उद्भट का आठवीं शताब्दी का अन्तिम तथा नवम् शताब्दी का प्रथम भाग माना जा सकता है।

भट्टोदभट के ३ ग्रन्थ – १– भामह विवरण, २– काव्यालङ्कार सारसङ्ग्रह, ३– कुमार सम्भव है। इनमे से भामह विवरण जो कि भामह के काव्यालङ्कार के व्याख्या के रूप मे है सम्प्रति अनुपलब्ध है। दूसरा कुमार सभव ६ जो कि महाकवि कालिदास के 'कुमार सम्भव' नामक ग्रन्थ से भिन्न हैं। काव्यालङ्कार सार सङ्ग्रह–६ वर्गों मे विभक्त इस ग्रन्थ मे कुल ७९ कारिकाये और ४१ अलङ्कारो का लक्षण दिया गया है। उपर्युक्त ४१ अलङ्कारो का वर्णन ७९ कारिकाओ में किया गया है और प्राय शताधिक श्लोक लक्षणकार ने अपने ग्रन्थ 'कुमार सम्भव' से उद्घृत किये हैं। उद्भट ने (१) पुनरूक्तवदाभास (२) काव्यलिङ्ग (३) छेकानुप्रास (४) दृष्टान्त और (५) सङ्कर इन सबको एक रूप मे स्थापित किया है। साथ ही साथ रसवत् प्रेय उर्जस्वित् समाहित और श्लिष्ट ये ५ ऐसे अलङ्कार हैं जिनका लक्षण अगर किसी ने स्पष्ट किया है तो वे उद्भट ही है। इस प्रकार पुनरूक्तवदाभास इत्यादि ५ अलङ्कारो की स्थापना तथा रसवत् इत्यादि ५ अलङ्कारो के लक्षणो का स्पष्टीकरण इनकी साहित्य शास्त्र को अनुपम देन है।

भरत के नाट्य शास्त्र के टीकाकार के रूप मे भी इनका नाम सहर्ष लिया जाता है। शार्ङ्ग देव ने अपने सङ्गीत रत्नाकर मे नाट्य शास्त्र मे व्याख्याताओ की सूची निम्न रूपेण प्रकाशित की हैं –

"व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशङ्कुका ।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमद् कीर्तिधरोऽपर । ।

<u>वामन:</u> रीति सम्प्रदाय, के सस्थापक आचार्य वामन का नाम प्रमुख अलङ्कार शास्त्रियो मे समादर पूर्वक लिया जाता है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य" कहकर इन्होने रीति

को काव्य की आत्मा कहा। उद्भट् के समान वामन भी कश्मीर नरेश जयादित्य के राज्यमत्री थे। इसे राजतरगिणी मे इस प्रकार वर्णित किया गया है –

मनोरथ शड्खदत्तश्चटक सन्धिमास्तथा।

बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण ।।

राजतरड्गणी ४ – ४६७

जयादित्य के शासन काल मे होने के कारण इनका समय आठवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और नवम् शताब्दी का प्रारम्भ माना जा सकता है।

अलड्कार शास्त्र मे अप्रतिम सूत्रशैली मे लिखा गया काव्यालड्कार सूत्र एक ग्रन्थ है। यह ग्रन्थ पाच अधिकरणो मे विभक्त है और प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायो में विभक्त है, अत सम्पूर्ण ग्रन्थ मे बारह अध्याय हैं। कुल सूत्रो की संख्या ३१२ है।

प्रथम अधिकरण का नाम शरीराधिकरण है और उसमे तीन अध्याय हैं। द्वितीय अधिकरण का नाम 'दोषदर्शनाधिकरण' है इनमें दो अध्यायो मे ग्रन्थकार ने काव्य के दोषो का विवेचन किया है। तीसरे अधिकरण का नाम गुण विवेचनाधिकरण है, इसमे दो अध्यायों मे कवि ने काव्य के गुणो का विवेचन किया है, साथ ही साथ ग्रन्थकार ने अलड्कार तथा गुण के बीच भेद भी प्रदर्शित किया है। चतुर्थ अधिकरण का नाम आलड्कारिक अधिकरण है, इसमे तीन अध्याय हैं। पाचवे अधिकरण का नाम प्रायोगिकाधिकरण है। इसमे दो अध्याय हैं और शब्द प्रयोग के विषय मे विवेचन है।

काव्यालड्कार सूत्र वामन की एक अद्वितीय कृति है जिसक साहित्य शास्त्र के क्षेत्र मे अपना एक अमूल्य योगदान है।

रूद्रट – साहित्यशास्त्र के इतिहास मे एक अत्यन्त प्रसिद्ध आचार्य के रूप मे आचार्य वामन के अनन्तर रूद्रट का प्रमुख स्थान है। राजशेखर ने अपनी काव्य मीमासा मे –काकुबकोक्तिर्नामशब्दालङ्कारोऽयमिति रूद्रट' कहकर रूद्रट को स्मरण किया है।

कश्मीर देशीय रूद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालङ्कार है जो आर्या छन्द है इसमे ७१४ आर्याये है। १६ अध्यायो मे विभक्त ११ अध्यायों में अलङ्कारों का ही मात्र विवेचन है। अन्तिम अध्यायो मे रस की मीमासा की गयी है। इससे प्रेय नामक रस का विवेचन करके रसो की सख्या १० बतायी गयी है। वैज्ञानिक आधार पर अलङ्कारो का विभाजन करके इन्होने एक नया दृष्टिकोण प्रदान किया है। कुछ प्राचीन अलङ्कारो का इन्होने नया नामकरण किया है। जैसे व्याजस्तुति के लिये व्याजश्लेष शब्द का प्रयोग किया है, स्वभावोक्ति के लिये जाति तथा उदात्त के लिये अवसर आदि नामो का प्रयोग किया है।

भेदवादियों की दृष्टि से रूद्रट और रूद्रभट् दो नाम अलग – अलग व्यक्तियो के बताये गये हैं किन्तु अधिकाशत दोनो को एक ही व्यक्ति मानते हैं।

भट्टनायक – कश्मीर देशीय भट्टनायक वर्धन के समकालीन थे। दशम् शताब्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री भट्टनायक ध्वनि विरोधी आचार्य है। इनका एक ग्रन्थ 'हृदय दर्पण' है जो कि उपलब्ध नहीं है। इन्होने रस के विषय मे साख्य दर्शन के आधार को ग्रहण करके मुक्तिवाद सिद्धान्त का अन्वेषण किया है।

इन्होने शब्द मे अभिधा व्यापार, भावकत्व और भोजकत्व तीन प्रकार के व्यापार माने हैं। अभिधा व्यापार से सामान्य अर्थ की उपस्थिति, भावकत्व से साधारणीकरण और भोजकत्व से सामाजि को रस की अनुभूति होती है। इसी बात को हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन विवेक मे पृष्ठ ६१ पर इनके मत को श्लोक रूप मे प्रकट किया है।

अभिधाभावना चान्या तद्भोगी कृतिरेव च।
अभिधाधामता याते शब्दार्थालङ्कृती तत ।।
भावनाभाव्य एषोऽपि श्रृङ्गारादिगणो मत ।
तद्भोगी कृति रूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नर ।।

मुकुल भट्ट – अभिधावृत्तिमात्रिका इनका ग्रन्थ है ये कश्मीर के रहने वाले है और कल्लट के पुत्र हैं। इन्होने ग्रन्थ के अन्त मे अपना परिचय इस प्रकार दिया है –

भट्टकल्लटपुत्रेर्ण मुकुलेन निरूपिता,
सूरि प्रबोधनामेयमभिधावृत्तिमातृका।

(अभि० ग्रन्थत)

'अभिधावृत्तिमातृका' ग्रन्थ मे अभिधा और लक्षणा का सविस्तार विवेचन प्रस्तुत है। काव्य प्रकाशकार ने इसका खण्डन भी प्रबल तर्कणा से किया है।

प्रतीहारेन्दुराज – ये कश्मीर देशीय है और मुकुल भट्ट के शिष्य हैं। इनका भी समय आनन्दवर्धनाचार्य से पूर्व का है। इन्होने अपना परिचय इस प्रकार दिया है।

"महाश्रीप्रतिहारेन्दुराजविरचितामाममुद्भटालङ्कार लघुवृत्तौ षष्ठोऽध्याय (उद्भटालङ्कार, षष्ठाध्यायान्ते)

<u>**आनन्द वर्धन –**</u> साहित्यशास्त्र के प्रमुख ध्वनि सम्प्रदाय के सस्थापक के रूप मे आनन्दवर्धनाचार्य का नाम प्रमुख है। राजतरगिणीकार ने इन्हे कश्मीर नरेश अवन्ति वर्मा का समकालीन बताया है।

'मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन ।

प्रथा रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽन्तिवर्मण ।।

इससे इनका समय नवम् शताब्दी ठहरता है। इन्होने विषमवाण लोला, अर्जुन चरित्र, देवी शतक, तत्वालोक तथा ध्वन्यालोक इन पाच ग्रन्थो की रचना की थी। इनमे सबसे प्रमुख ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इसमे काव्य के आत्मभूत ध्वनि तत्व का प्रतिपादन किया गया हैं। ग्रन्थ में ४ उद्योत है – प्रथम उद्योत में –

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य सम्मानात् पूर्व –

स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्त माहुस्तमन्ये'।।

केचिद्वाचा स्थितमविषये तत्वमुचुस्तदीय।

तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम् ।।

इस प्रकार तीन विरोधी ध्वनि सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय उद्योत मे अविवक्षित वाच्य और विवक्षित वाच्य के भेदोपभेदों का सविस्तार विवेचन है। तृतीय उद्योत मे पदों, वाक्यो, पद्याश और रचना आदि के द्वारा ध्वनि की प्रकाश्यता का प्रतिपादन और रसो के विरोध तथा अविरोधापादन के सिद्धान्तो का वर्णन किया गया है। चतुर्थ उद्योत मे ध्वनि तथा गुणीभूति व्यग्ङ्य के प्रयोग के प्रभाव से कवि के काव्य मे अनन्त चमत्कार उत्पन्न हो जाता है इसे ही ध्वनिवादी आचार्य ने पुष्ट करने की चेष्टा की है।

ध्वन्यालोक मे तीन भाग हैं। एक मूलकारिका भाग, दूसरी उनकी वृत्ति भाग और तीसरा भाग उदाहरण रूप है। स्वय आनन्दवर्धनाचार्य ने –

इतिकाव्यार्थविवेको योऽय चेतश्चमत्कृति विधायी सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्य। कहकर ध्वनि को अस्मदुपज्ञ रहा है। इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य को ही कारिका भाग तथा वृत्तिभाग दोनो का निर्माता मानना जाना उचित है। ध्वन्यालोक पर अभिनव गुप्त की टीका लोचन सुप्रसिद्ध है। लोचनकार ने लिखा है –

कि लोचन विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि

अतोऽभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलन व्यधात्।

<u>अभिनव गुप्त –</u>

अभिनवगुप्तपादाचार्य भी कश्मीर देश के निवासी हैं। इन्होने ध्वन्या लोक पर लोचन नाम की टीका लिखी है। "'अत्रिगुप्त' नामक विद्वान वश मे लगभग २०० वर्ष बाद अभिनव गुप्त पैदा हुये। इसी वश के वराह गुप्त जो कि अभिनव गुप्त के बाबा थे और पिता चुलुखक तथा अपनी उत्पत्ति का वर्णन अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक मे किया है –

तस्यान्वये महित कोऽपि वराह गुप्तनामा वभूव भगवान् स्वयमन्तकाले।

गीर्वाणसिन्धुलहरीकलिताग्रमूर्धा यस्याकरोत् परमनुग्रहमाग्रहेण ।।

तस्यात्मज चुलुखकेति जनो प्रसिद्धश्चन्द्रावदातधिषणो नरसिहगुप्त ।

य सर्वशास्त्ररसमज्जनशुभ्रचित्त माहेश्वरी परमलङ् कुरूते स्म भक्ति ।।

अभिनव गुप्त के तीन ग्रन्थ हैं । (१) विवृत विमर्शिनी (२) कमस्तोत्र (३) भैरव स्तोत्र।

अभिनव गुप्त का काल दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग तथा ग्यारहवीं शताब्दी

के प्रारम्भ मे था। इनके लगभग ४१ ग्रन्थ हैं। साहित्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाले ३ ग्रन्थ ये हैं – ध्वन्यालोक लोचन जो कि ध्वन्या लोक की टीका है और दूसरा 'अभिनव भारती' जो कि नाट्य गास्त्र पर टीका रूप मे हे और तीसरा घटकर्परविवरण जो मेघदूत की टीका है। शेष अन्य ग्रन्थ शैव दर्शन या स्तोत्रपरक है।

<u>राजशेखर :–</u> प्रसिद्ध नाटककार तथा सूक्ष्म विवेचक इस साहित्यकार का जन्म स्थल कश्मीर न होकर बाहर रहा। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध कवि अकाल जलद के पौत्र और दुर्दक तथा शीलवती के पुत्र थे। इनकी पत्नी का नाम अवन्ति सुन्दरी था। जो निसर्गत विदुषी और कवित्व प्रतिभाशालिनी प्राप्त हुयी थी।

मुख्य रूप से कवि और नाटककार राजशेखर की चार कृतिया है – बाल रामायण, बाल भारत, बिद्धशालभजिका, कर्पूर मजरी इत्यादि।

साहित्य समीक्षा से सम्बन्धित प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्य मीमासा है। इसमे कुल १८ अध्याय है। यह एक विलक्षण ग्रन्थ है।

इस तरह से इन्हे कविशिक्षा सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी माना जा सकता है।

<u>धनजय –</u> ये दशम् शताब्दी के एक प्रमुख नाट्यशास्त्री हैं। भरत के नाट्य शास्त्र के अनन्तर इनका दशरूपक ग्रन्थ विद्वत् समाज मे सर्वाधिक सभादृत रहा।

यह ग्रन्थ कारिका रूप मे लिखा गया है। चार प्रकाशो मे विभक्त इस ग्रन्थ मे धनजय ने नाटक के भेदोपभेद सहित रूपको से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातो का सकलन किया है। इनके दश रूपक ग्रन्थ पर इनके भाई धनिक ने अवलोकत्रयक टीका लिखी है।

<u>कुन्तक:–</u> वक्रोक्ति सम्प्रदाय के सस्थापक के रूप मे इनका नाम समादर से लिया जाता हैं। ये निश्चित रूप से महिम भट्ट के पूर्ववर्ती है। इनका समय दशम शताब्दी के पहिले मानना पडेगा क्योकि ये महिम भट्ट के

पूर्ववर्ती है।

'वक्रोक्ति जीवित' नामक ग्रन्थ के प्रभाव से ही ये सभी के बीच आज भी समादृत है। कारिका, वृत्ति और उदाहरण तीन भाग है। कारिका और वृत्ति दोनो कुन्तक द्वारा स्वरचित है। ग्रन्थ चार उन्मेषो मे विभक्त है। ये अभिधावादी आचार्य है। ये लक्ष्य, व्यग्य अर्थ को मानते तो हैं किन्तु इनका अन्तर्भाव वाच्य मे ही कर लेते हैं।

<u>महिम भट्ट:–</u> ये ध्वनि विरोधी आचार्य हैं, इनका समय दशम् शताब्दी का अन्तिम भाग पड़ता है। ये नैयायिक हैं अत इन्होने ध्वनि को सामान्य रूप से और उसके उदाहरणो को विशेष रूप से अनुमान के अन्तर्गत रखा है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु ही इन्होने व्यक्ति विवेक ग्रन्थ लिखा है। इसी के रूप मे ये ज्यादा जाने जाते है अपने मूल रूप से कम।

व्यक्ति विवेक मे तीन विमर्श हैं। प्रथम विमर्श मे ध्वनि का अपनी तर्कणा से खण्डन और समस्त ध्वनिपरक उदाहरणो का अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखाया है। द्वितीय विमर्श मे काव्य के दोष निरूपित हैं। इसमे अनौचित्य काव्य का मुख्य दोष है। तृतीय विमर्श मे ध्वनि के समस्त ४० उदाहरणो को अनुमान के अन्तर्गत अन्तर्भाव दिखलाया है।

<u>क्षेमेन्द्र :–</u> औचित्य सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक एव प्रतिपादक क्षेमेन्द्र ने कविकण्ठाभरण ग्रन्थ मे अपना परिचय दिया है। इनके पिता का नाम प्रकाशेन्द्र तथा बाबा का नाम सिन्धु था। इनके ग्रन्थो की संख्या विस्तृत है। लगभग ४० ग्रन्थो की रचना इन्होने की है। किन्तु वे सब उपलब्ध नहीं है।

औचित्य विचार चर्चा मुख्यतया अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ हैं। इन्होने औचित्य को रस का प्राणभूत तत्व कहा है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारूर्वणे

रस जीवित भूतस्य विचार कुरूतेऽधुना।। इन्होने इसी कम मे अनौचित्य को रसभङ्ग का कारण और औचित्य को अत्यधिक महत्व दिया।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौ चित्यकन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

'सुवृत्ततिलक छन्द शास्त्रीय ग्रन्थ है। दशावतारचरित भी इन्ही का एक ग्रन्थ है।

भोजराज :– राजा भोज इतिहास मे विद्वानों के आश्रय दाता एव उदार दानशील नृपति के साथ – साथ एक प्रसिद्ध अलङ्कार शास्त्री भी थे। ये कश्मीर नरेश अनन्त वर्मा के समकालीन थे, अत इनका शासनकाल ग्यारहवीं शताब्दी मे माना जाता हैं। कल्हण ने अपनी राजतरङ्गिणी मे इसका उल्लेख किया है जो कि निम्नवत् है।

"स च भोजनरेन्द्रश्च दानोत्कर्षेण विश्रुतौ ।
सूरी तस्मिन् क्षणे तुल्य द्वावास्ता कविवान्धवौ ।।"

अलङ्कार शास्त्र के विषय मे इनक दो ग्रन्थ है – (१) सरस्वती कण्ठाकरण और (२) श्रृङ्गार प्रकाश।

सरस्वती कण्ठाभरण – इसमे ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे दोष और गुण का विवेचन है, द्वितीय परिच्छेद और तीसरे मे २४ शब्दालङ्कारो का तथा चतुर्थ परिच्छेद मे २४ उभयालङ्कारो का वर्णन है। पचम् परिच्छेद मे रस, भाव, पचसन्धि तथा चारो वृत्तियो का वर्णन किया गया है।

इनका दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ श्रृङ्गार प्रकाश है। इस विशालकाय ग्रन्थ मे ३६ प्रकाश हैं। इसमे ग्रन्थकार ने श्रृङ्गार रस को ही प्रधान रस कहा है –

श्रृङ्गारवीरकरूणाद्भुतरौद्रहास्य –

वीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।

आम्नासिषुर्दशरसान् सुधियो वय तु

श्रृङ्गारमेवरसनादृरसमामनाम ।।

प्रथम आठ प्रकाशो मे शब्द एव अर्थ विषयक विविध वैयाकरणो के मत है। नवम् तथा दशम् प्रकाशो मे गुण तथा दोषो का विवेचन है। ग्यारहवे से लेकर बारहवे प्रकाशो मे महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन है। शेष प्रकाशो मे ग्रन्थकार ने विविध उदाहरणो के माध्यम से रसो का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। यह ग्रन्थ अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थो में सर्वाधिक विशालकाय ग्रन्थ है। इस रचना ने भोजराज को साहित्य शास्त्र के आकाश मे एक उज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे सदा – सदा के लिए चिर प्रतिष्ठित कर दिया है। भोजराज का श्रृगार रस कोई सामान्य श्रृगार नहीं है। अपितु इसमे जीवन के चतुर्विध पुरूषार्थ समाहित हो जाते हैं।

वाग्देवतावतार मम्मट :–

आचार्य मम्मट का नाम साहित्य शास्त्र के आकाश में उज्ज्वलतम् नक्षत्र के रूप मे लिया जाता है। ये भी कश्मीर के निवासी थे। काव्य प्रकाश की 'सुधा सागर' टीका के निर्माता भीमसेन के अनुसार ये कश्मीर देशीय जैय्यट के पुत्र थे। कैय्यट तथा उव्वट दोनो ही इनके छोटे भाई थे। किन्तु यह मत ठीक नही है क्योकि उव्वट कृत वाजसनेय सहिता भाष्य मे उनका परिचय इस प्रकार है –

आनन्दपुर वास्तव्य वज्रटाख्यस्य सूनुना।

मन्त्रभाष्यमिद क्लृप्त भोजे पृथ्वीं प्रशासति।।

कैय्यट को जैय्यट का आत्मज कहा है किन्तु उव्वट तो वज्रट के पुत्र है। अत 'कैय्यटो जैय्यटात्मज' के अनुसार कैय्यट जैय्यट के पुत्र होने के कारण मम्मट के भाई जान पडते हैं।

'शिवपुरीं गत्वा प्रपठ्यादरात्' की जो बात कही है वह भी तर्क सगत नही है। क्योकि कश्मीर भले ही विद्या का केन्द्र रहा किन्तु उस समय वाराणसी विद्या का केन्द्र नही था, अत कश्मीर देशीय मम्मट का कश्मीर छोडकर विद्याध्ययनार्थ वाराणसी आना तर्क की कसौटी पर खरा नही उतरता है।

'काव्य प्रकाश' के निर्माता के रूप मे वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का नाम साहित्यशास्त्र में बहुत ही आदर से लिया जाता हैं। इसमे अल्लट का भी सहयोग रहा है। इसी बात को काव्य प्रकाश के अन्त मे इस प्रकार कहा गया है –

इत्येष मार्गो विदुषा विभिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत्

न तद्विचित्र यदमुत्र सम्यग् विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतु ।।

सूत्रात्मक शैली मे लिखा गया यह ग्रन्थ अलङ्कार शास्त्र का नवनीत है यह कहना अत्युक्ति नही होगी। कारिका, वृत्ति एव उदाहरण इसके तीन भाग है। कतिपय विद्वान् कारिका और वृत्ति दोनो का कर्त्ता आचार्य मम्मट को मानते हैं। इन्होने उदाहरण जो भी दिये है वे दूसरो द्वारा रचित हैं। 'काव्य प्रकाश निदर्शना नामक टीका के निर्माता राजानक आनन्द ने इस बात को साररूप मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है'

कृत श्रीमम्मटाचार्यवर्यै परिकरावधि ।

ग्रन्थ सम्पूरित शेष विधायाल्लट सूरिणा।।

आचार्य मम्मट ने परिकर अलङ्कार पर्यन्त 'काव्य प्रकाश' जैसे जिस ग्रन्थ की रचना की उसी को अल्लट नामक विद्वान ने पूर्ण किया।

इस ग्रन्थ मे १० उल्लास हैं। इसमे 'तद्दोषौ शब्दार्थो सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि' इस लक्षण के अनुसार कमश एक – एक का वर्णन समीक्षात्क रूप से किया है। जैसा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन इस ग्रन्थ मे मिलता हैं वैसा अन्यत्र नही मिलता है।

सूत्र शैली और विषय बाहुल्य के कारण काव्य प्रकाश एक अद्वितीय ग्रन्थ है। आचार्य मम्मट की प्रतिभा एव विलक्षण वैदुष्य तथा साहित्यशास्त्र के प्रति की गयी

उनकी सेवा अविस्मरणीय है। प्रथम काव्य का लक्षण और उसके भेद – प्रभेद का वर्णन और द्वितीय उल्लास मे अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यजना के भेद शाब्दी व्यजना का निरूपण किया गया हैं। तृतीय उल्लास मे आर्थी व्यजना का निरूपण है। चतुर्थ उल्लास मे ध्वनि प्रस्थापन परमाचार्य मम्मट ने ध्वनिकाव्य का, पचम उल्लास मे गुणीभूत व्यग्य काव्य का और षष्ठ उल्लास मे चित्र काव्य का वर्णन किया गया है। सप्तम उल्लास मे दोषो का और अष्टम गुण, रीति तथा वृत्तियों का और नवम् तथा दशम् उल्लास मे शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारो का भेद – प्रभेद सहित निरूपण है।

मधुमक्षिकावत् विशाल साहित्य के अक्षय भण्डार को गागर मे सागर की तरह समाहित करने वाले आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश का अध्ययन किये बिना साहित्य शास्त्र का मूल मन्तव्य समझ पाना असम्भव नही तो कठिन अवश्य हैं। इस हेतु किया गया आचार्य मम्मट का प्रयास स्तुत्य है।

सागरनन्दी :–

दशरूपककार धनजय के लगभग १०० वर्ष बाद सागर नन्दी ने "नाटकलक्षणरत्न कोष" नामक ग्रन्थ की रचना की। ये वस्तुत: काव्य शास्त्र के नही अपितु नाट्य शास्त्र के आचार्य हैं। यह ग्रन्थ भरत के नाट्य शास्त्र पर आधारित हैं तथा कारिका रूप मे लिखा गया हैं।

राजानक रूय्यक :–

'काव्यप्रकाश सकेत' टीका के रचयिता के रूप मे आचार्य रूय्यक का नाम मम्मटाचार्य के उत्तरवर्ती साहित्यकारो मे लिया जाता हैं। राजानक शब्द का प्रयोग इन्हे कश्मीरी सिद्ध करता हैं। ये मखक कवि के शिष्य थे। अत इनका काल ११वीं शताब्दी का मध्य भाग मानना उचित है।

सहृदयलीला, व्यक्ति विवेक की टीका तथा अलकार सर्वस्व ये तीन पुस्तकें इस समय उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त काव्य प्रकाश सकेत, अलकार मजरी, अलकारानुसारिणी, नाटक मीमासा इत्यादि ग्रन्थो के नाम भी मिलते हैं।

नहीं है। इनके ग्रन्थो मे चन्द्रालोक, प्रसन्न राघव, गीत गोविन्द तीन अति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। चन्द्रालोक मे दस मयूख हैं। बहुत ही सरल और सुन्दर शैली मे लिखे गये इस ग्रन्थ मे कवि ने अपने वैदुष्य का कुशल परिचय दिया है। प्रसन्न राघव नाटक का प्रभाव उत्तरवर्ती साहित्यकारो पर इतना पडा कि गोस्वामी जी ने इनकी पक्तियो का कहीं–कहीं अक्षरशा अनुवाद कर दिया है जो कि बहुत ही अच्छा बन पडा है।

विद्याधर –

एकावलीकार विद्याधर दक्षिण भारत की विभूतियों मे से हैं। इन्होने साहित्य शास्त्र मे अप्रतिम योगदान किया है। इनका एकमात्र ग्रन्थ एकावली है, इसमे आठ उन्मेष या अध्याय हैं। इनमें कमश काव्यस्वरूप, वृत्ति विचार, ध्वनि भेद, गुणी भूत व्यड्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालड्कार तथा अर्थालड्कारों का विवेचन किया गया है। इनका समय उडीसा के राजा नरसिह द्वितीय के शासनकाल मे होने के कारण बारहवीं–तेरहवीं शताब्दी के बीच का माना जा सकता है।

विद्यानाथ

'प्रतापरूद्रयशोभूषण," इनका काव्यशास्त्र पर लिखा गया अप्रतिम ग्रन्थ है। इसमे भी कारिका वृत्ति तथा उदाहरण तीन भाग हैं काकतीयवशीय राजा प्रताप रूद्र की स्तुति प्रशसा परक चाटु श्लोको के माध्यम से स्वय निर्मित उदाहरणो द्वारा किया गया है। प्रताप रूद्र राजा का समय चूकि चौदहवीं शताब्दी का आरम्भिक भाग है। अत विद्याधर का भी यही समय माना जा सकता है। इसी के आधार पर हिन्दी के प्रसिद्ध कवि 'भूषण' ने "शिवराज भूषण" नामक अलकार प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा है।

विश्वनाथ कविराज –

सस्कृत साहित्य के इतिहास मे कविराज विश्वनाथ का स्थान अप्रतिम है। इनका साहित्य दर्पण ग्रन्थ साहित्य के विद्यार्थियो के लिये अपरिचित प्राय नहीं है। इन्होने 'श्री चन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु' कहकर अपने को चन्द्रशेखर का पुत्र अभिव्यक्त किया है। साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद से पता चलता है कि ये किसी राज्य के <u>सन्धि विग्रहिक</u> अर्थात् मन्त्री थे। इन्होने 'अष्टादशभाषावारविलासिनीभुजड्ग' कहकर अपने को १८ भाषाओ का ज्ञाता सिद्ध किया है। अद्यतन प्राप्त साहित्य दर्पण की

हस्तलिखित प्रतिलिपि से यह ज्ञात होता है कि यह चौदहवीं शताब्दी के थे।

सुप्रसिद्ध ग्रन्थ साहित्य दर्पण मे कुल दस परिच्छेद हैं। इसकी एक विशेषता यह है कि इसके छठे परिच्छेद में नाट्य शास्त्र सम्बन्धी सम्पूर्ण विषयो का समावेश है। काव्य प्रकाश की जटिलता न होकर ग्रन्थ के सरल और सुबोध शैली में लिखे जाने के कारण ग्रन्थ बडा ही लोकप्रिय बन गया है।

इनकी अन्य रचनाओ मे काव्य प्रकाश दर्पण, राघव विलास, कुवलयाश्चरित, प्रभावती परिणय, चन्द्रकला नाटिका, नरसिह विजय तथा प्रशस्ति रत्नवाली आदि हैं।

<u>शारदा तनय –</u>

भाव प्रकाशन ग्रन्थ के रचियता आचार्य शारदा तनय अलकारशास्त्री न होकर नाट्य शास्त्र के आचार्यों मे से हैं। भाव प्रकाशन ग्रन्थ मे भाव, रसस्वरूप, रसभेद, नायक–नायिका, नायिकाभेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्येतिहास, दश रूपक, नृत्य भेद तथा नाट्य प्रयोग का वर्णन है। इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता हैं।

<u>शिङ्गभूपाल –</u>

यह भी नाट्यशास्त्री हैं। इनके ग्रन्थ का नाम रसार्णव सुधाकर है। इसमें रञ्जकाल्लास, रसिकोल्लास तथा भावोल्लास नामक तीन उल्लास हैं। इनकी शैली सरल और सुबोध हैं। इनका समय चौदहवीं शताब्दी माना जाता है।

<u>भानुदत्त –</u>

यह मध्य भारत से सम्बन्ध रखते हैं, इनके दो ग्रन्थ हैं। पहला रसमजरी, दूसरा रसतरगिणी इसके अलावा इनका एक गीति काव्य भी है। जो 'गीतगौरीपति' है।

<u>रूपगोस्वामी –</u>

वृन्दावन की विभूति रूप गोस्वामी की सत्रह कृतिया है। इनमें हंसदूत, उद्धवसदेश, विदग्धमाधव, ललित माधव और दानकेलिकौमुदी, भक्तिरसामृतसिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि तथा नाटक चन्द्रिका यह आठ ग्रन्थ हैं। भक्तिरसामृतसिन्धु तथा उज्ज्वल नीलमणि यह दो ग्रन्थ रस विषय से सम्बन्धित हैं।

<u>केशवमिश्र –</u>

केशव मिश्र ने अलङ्कारशेखर नामक ग्रन्थ की रचना की। इसमे आठ अध्याय

या आते रहे हैं।

कवि कर्णपूर –

अलकार कौस्तुभ तथा चैतन्य चन्द्रोदय नामक इनके दो ग्रन्थ है।

कवि चन्द्र –

यह कवि कर्ण पूर के पुत्र थे। इनके सारलहरी तथा धातु चन्द्रिका नामक दो ग्रन्थ हैं। इनका समय सत्रहवी शताब्दी है।

अप्पय दीक्षित एव पण्डितराजजगन्नाथ का वर्णन इसके पहले किया जा चुका है। अत पिष्ट–पेषण उचित नहीं प्रतीत होता है।

आशाधर भट्ट –

इनके पिता का नाम राम जी तथा गुरू जी का नाम धरणीधर सूचित किया है। इनके अलड्कार शास्त्र विषयक तीन ग्रन्थ हैं – कोविदानन्द, त्रिवेणिका, अलड्कार दीपिका। इनका समय अठ्ठारहवीं शताब्दी है।

नरसिंह कवि –

इनके अलड्कार शास्त्र विषयक ग्रन्थ का नाम नजराजयशोभूषण है। इसमे सात विलास या अध्याय हैं – नायक, काव्य, ध्वनि, रस, दोष, नाटक, तथा अलड्कार हैं। यह भी अठ्ठारहवीं शताब्दी के अलड्कार शास्त्री हैं।

विश्वेश्वर पण्डित –

ये संस्कृत अलड्कार शास्त्र के उज्ज्वल अन्तिम नक्षत्र हैं। इनके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। विश्वेश्वर पण्डित ने व्याकरण, न्याय और साहित्य शास्त्र पर उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं। साहित्य शास्त्र पर इनका उत्कृष्ट ग्रन्थ अलड्कार कौस्तुभ है। इसमे अप्पय दीक्षित एव पण्डितराजजगन्नाथ के मतो का अनेक स्थलो पर बडी प्रौढ़ता के साथ खण्डन किया गया है। इनके अलड्कार मुक्तावली, अलड्कार प्रदीप, रसचन्द्रिका, कवीन्द्र कण्ठाभरण ये अन्य ग्रन्थ हैं।

तृतीय अध्याय

चित्र मीमांसा का महत्व एव उसका मूल प्रतिपाद्य

वैदिक साहित्य मे चित्र शब्द का प्रयोग अनेकश हुआ हे, जहा इसका प्रसगानुसार विविध अर्थ मी है। ऋग्वेद के अनुसार नानावर्ण युक्त, दर्शनीय एव आलेख्य परक, अद्‌भुत, आश्चर्य विचित्र इत्यादि इसके अर्थ हैं। इसी प्रकार लौकिक साहित्य मे मधुर, उद्वेगपर एव आश्चर्य, अद्‌भुत इत्यादि अर्थ मिलता है। कोषगत अर्थ मे चित्र शब्द प्रतिमूर्ति, आलेख्य, तिलक चित्रक एव चित्र गुप्त इत्यादि मिलता है।

काव्य शास्त्र मे सर्व प्रथम आनन्द वर्धनाचार्य ने इसके विषय मे लिखा है –

प्रधानगुणमावाम्या-व्यड् गयस्यैव व्यवस्थिते

काव्य उभे ततोऽन्यद् यत्तच्चित्रममिधीयते।

चित्र शब्दार्थमेदेन द्विविध च व्यवस्थितम्।

तत्र किञ्चित् शब्दचित्र वाच्यचित्रमत- परम्।। – ध्व० ३–४२, ४३

अर्थात् काव्य के दो भेद – ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य इन दोनो से भिन्न जो काव्य व्यग्यार्थ की विवक्षा से सर्वथा शून्य हो उसे चित्र काव्य कहते हैं। इस प्रकार के काव्य में अन्तस्तत्व का अमाव रहता हैं। इसे शब्द चित्र काव्य और अर्थ चित्र काव्य दो रूपो मे समझा जा सकता है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्र काव्य का स्वरूप निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

रसमावादिविषयविवक्षा विरहे सति।

अलड्कार निबन्धो य सचित्र विषयो मत ।।

रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यववती यदा।

तदा नास्त्येव तत्काव्य ध्वनेर्यत्तु न गोचर ।।

चित्र काव्य का विषय वह अलङ्कार निबन्ध है। जिसकी विश्रान्ति किसी भी प्रकार से रसभाव मे नहीं होती है।

आचार्य दीक्षित जी ने चित्र शब्द को उसके अर्थ गौरव की दृष्टि से ही ग्रहण किया है – चित्र काव्य के पाच मूल तत्व हैं जिन पर विचार किया जाना अति आवश्यक है –

१– कल्पना

२– विचार

३– भावना

४– शैली या अलङ्कार

५– तोष

१– **कल्पना तत्व –**

कल्पना ही कवि की अमोघ शक्ति है और किसी भी कवि कर्म में इसकी चरम सार्थकता है। इसी के आधार पर ही कवि अमूर्त को मूर्त रूप मे और नीरस को सरस वातवारण प्रदान करने मे सफल होता है। कल्पना तत्व के सहारे ही कवि भूत अथवा भविष्य की घटनाओ को वर्तमान घटना की तरह चित्र रूप में उपस्थित कर देता है। प्रस्तुत के लिये अप्रस्तुत की आवश्यकता चित्र काव्य मे पड़ती है। वस्तुत चतुर्दिक व्याप्त यथार्थ के बीच छिपी हुई निरन्तर कल्पना है, जहा मानव हृदय की उन्मुक्त अन्तरनुभूतियों का निवास हैं। वही कवि सफल होता है, जो अपनी कृतियो मे इन्हीं सामान्य, सार्वकालिक, सार्वभौमिक, मानवता की भाव भूमि का सृजन करता है, जो अपनी कल्पना तरग को इतना ऊचा उठा देता है कि सर्वसामान्य उसकी सवेदना, उसकी अनुभूति या मनोभावों को अपना मान लेता हैं। वही वस्तुत सफलतम कवि, कथाकार या कथाशिल्पी और उपन्यासकार होता है। मुशी प्रेमचन्द, गोस्वामी

तुलसीदास कविकालिदास, इत्यादि इसी परम्परा के सवाहक रहे हैं। उनकी कल्पना शक्ति इतनी उर्वर रही है कि वे उसी के बल पर आज भी अमर हैं।

चित्र सृजन मे कल्पना तत्व का दूसरा छोर परम्परा से सम्बन्धित है, क्योकि प्रत्येक परम्परा के पास एक सुपरीक्षित और संरक्षित तथा सुसज्जित पद्धति होती है, किन्तु चित्र स्रष्टा के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह परम्परा से सम्बद्ध कुछ अच्छाइयो को जहा ग्रहण करता है वहीं उसमे आई हुई न्यूनताओ का परित्याग भी करता है। इसका मूलभूत कारण यह रहता है कि प्रत्येक परम्परा पुरातन विचारो, चिन्तन के नियमों एव पुराने समाज के दर्पण का प्रतिविम्ब होता है। चित्रसष्टा के लिये यह अपरिहार्य है कि वह नवीन विधाओ, देश, काल और वातावरण की अत्याधुनिक आवश्यकताओं तथा जनसामान्य की आम रूचियो और प्रवृत्तियो का आकलन अपनी कल्पना शक्ति के द्वारा अपने काव्य में करें क्योंकि इसका पुरातन में सर्वथा अभाव रहता हैं। चित्र सृजन का ही यह परिणाम सृष्टि हैं। चित्र सृजन की प्रक्रिया रूढिवादी, परम्परावादी और गतानुगतिकता वाली नहीं हैं यह उसके सृजन में सर्वथा बाधक हैं। चित्रसृजन की प्रक्रिया ऋणात्मक न होकर सकारात्मक हैं। निषेधात्मक न होकर स्वीकारात्मक है, भावात्मक तथा निर्णयात्मक है। इसी प्रकार जो भी आलोचक एक पक्षीय होकर पुरानी परम्परा का एक मात्र अनुसरण करता है, वह समाज के प्रगतिशील विचारों का पक्षधर न होकर रूढ़िवादी हो जाता है, सार्वकालिक न होकर एकदेशीय हो जाता है। इसी को दृष्टिगत रखकर ही शायद महाकवि ने "मालविकाग्नि मित्रम्" मे कहा –

पुराणमित्येव न साधु सर्वम्।

न चापि काव्य नवमित्यविद्यम्।

सन्त परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते।

मूढ पर प्रत्ययनेय बुद्धि ।।

सही आलोचक तो पुरातन एव नवीन दोनो का आश्रय लेकर आगे बढता है। वह सही मायने मे दोनो की समीक्षा करता हैं। पुरातन की अच्छाइयो को ग्रहण करता है और बुराईयो का परित्याग करता है तथा नवीन देश काल, वातावरण के क्रम मे ही अपने समीक्षाओ का सृजन करता हैं।

अत चित्र सृष्टि के लिए विचारतत्व के पूर्व कल्पना का आश्रयण अत्यन्त आवश्यक है।

२ **विचार तत्वः—** विचार तत्व का चिन्तन की परम्परा मे अपना अद्वितीय स्थान है। इससे तात्पर्य चित्रकार की विशिष्ट चिन्तानधारा से है। इसके अभाव मे चित्रकाव्य स्थायी रह ही नही सकता। दर्शन इत्यादि की दुर्बोध चिन्तन धारा से परे चित्रकाव्य मे दुर्बोध को भी सुबोध, नीरस कों भी सरस रूप मे चित्रित किया जा सकता हैं। जन सामान्य का सीधा सम्बन्ध इसी चिन्तन धारा से होता हैं। सगीतज्ञ को दिशा ज्ञान के निमित्त जो विविध वाद्य यन्त्रो मे मेरीनर्स कम्पास इत्यादि का हो ता है। वही महत्व चित्र काव्य के लिए कवि के समक्ष उपयुक्त शब्द और अर्थ के सकलन को लेकर हो सकता है। चूकि प्रत्येक चित्र सर्जक तत्कालीन देश, काल, वातावरण के अनुकूल नवीन युग का प्रस्तोता होता है, अत उसे तत्कालीन देश, काल वातावरण के अनुसार ही अपने काव्य का सृजन करना पड़ता हैं। यदि कोई भी कवि इसकी उपेक्षा करके अपने काव्य का सृजन करता है तो इसका स्पष्ट आशय यह है कि वह अपनी कृति को

अस्थायी, पगु और पाण्डुर बनाने जा रहा है। इसीलिए "यथादृष्टि तथा सृष्टि" का सुष्ठु रूपेण परिपालन प्रत्येक चित्र स्रष्टा का मूल दायित्व है।

३ <u>भावना तत्व :–</u> कल्पना और विचार तत्व के अनन्तर भावनातत्व की प्रधानता सर्वविदित है। चित्र स्रष्टा की कान्तिकारी प्रवृत्ति यहीं ही परिलक्षित होती है क्योकि चित्रकाव्य का स्रष्टा वर्तमान के साथ – साथ आगत युग का भी स्वप्नद्रष्टा होता है। वह वर्तमान युग का वैतालिक तो है परन्तु इसके साथ ही साथ वह भविष्य का हरकारा भी हैं। भावनाओ का जब तक आस्फालन नहीं होगा तब तक आशा का आविर्भाव नही होगा और जब तक आशा का आविर्भाव नही होगा तब तक अतीत अभिज्ञ और वर्तमान सजग चित्रद्रष्टा आगत के लिए एक आदर्श प्रस्तुत कर ही नही सकता हैं। भावनाओं का सहारा लेकर ही वह आन्तरिक हो या वाह्य तिक्त यथार्थो को कुरेदता है और सभावित सत्यादर्शों की खोज करता है, उसके सहारे ऐसी अनुभूतियों का बोध कराता है, जिसके सस्पर्श से सत्य का सम्पूर्ण सन्दर्भ ही बदल जाता है।

कभी – कभी चित्र स्रष्टा कवि यूटोपियन भी कहा जाता हैं। वह प्लास्टिक 'सर्जन' की तरह जीर्ण – शीर्ण वास्तविकताओं का काया – कल्प करता है। इन्ही भावनाओ के आधार पर वह घोर निराशा मे भी आशा का मधुर सचार करता है।

इसी का सतत् विकासशील मनुष्य के लिए मधुर महत्त्व है। भावनाओ के आधार पर ही कवि धर्मरेखा का निबन्धन करता है जिससे अनुशासित होकर समग्र समाज की विकासमान प्रवृत्तियां आगे बढती है। इसलिए कोई भी चित्र स्रष्टा वर्तमान को ही विधायक नहीं है बल्कि एक वाक् वर्चस्वी नेता की तरह है जो भविष्य के लिए एक घोषणा पत्र – मन्तव्य पत्र (Menıfesto) भी प्रस्तुत करता है।

४ <u>शैली –</u> इसका चित्र काव्य मे अपना अलग वैशिष्ट्य है। चित्र मे

काव्यात्मक सवेग महत्त्वहीन तब हो जाता है जब उसकी शैली या अलडकार को गौण महत्व दे दिया जाय। शैली और अलङ्कार के माध्यम से चित्र काव्य मे ग्रथित अन्तर्वृत्तियो और रागवृत्तियो का उच्छृखल निदर्शन नहीं अपितु यथायोग्य नियमन हो जाता है। नैतिकता को ही काव्य का निकष मान लेने पर सही चित्राकन का मार्ग पूर्ण रूपण अवरूद्ध हो जाता है। इसके लिए एक छोटा सा उदाहरण द्रष्टव्य हैं। कोई भी नैतिक विचारक जो कि कर्ण के ऊपर लिखे गये काव्य पर विचार कर रहा है, कर्ण की कानीयता और युद्ध छल पर ही विचार करता रह जायेगा। जब तक कि कर्ण की यह दर्पोक्ति सामने नही आ जाती कि –

> सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा को वा भवाम्यहम्
>
> दैवायत्त कुले जन्म मदायत्त तु पौरूषम्।।

अत शैली और अलङ्कार को यदि प्राण कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

५ <u>**तोष :–**</u> **यह अत्यन्त ही महत्वपूर्ण तत्व है।** 'स्वान्त सुखाय' का तत्तव बोध ही वक्ता एव श्रोता को किसी कृति के अवगाहन हेतु प्रस्तुत करता हैं। 'कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे' की सर्वाधिक चरितार्थता यहीं ही दृष्टिगोचर होती हैं।

चित्र काव्य का मूल उद्देश्य अलङ्कारपरक होने के कारण कभी – कभी कटु हो जाता है। किन्तू उसका वाग् विधान एव कथानक सर्वथा रोचक और आकर्षक होता है, अत अन्ततोगत्वा सुखानुभूति ही होती है। भारतीय अध्यात्म तत्व मे भी आनन्द का परम महत्व है, इसी के कारण चित्र काव्य के प्रतीक विधान, अलङ्कार योजना इत्यादि का समन्वित् प्रभाव पाठको के लिए अतिशय ग्राह्य ही होता है, व्याज्य नहीं।

उपर्युक्त सकेतित तत्वो से यह स्पष्ट है कि जिस कवि की प्रतिभा,

सौन्दर्यानुभूति जितनी ही गहनतर, अतल स्पर्शिनी और मानुपातिक समवाय रूप होगी, उसकी चित्र सृष्टि उतनी ही हृदयहारिणी एव मूल्यवान् होगी।

पाठक अथवा चित्रकार दोनो का ही चित्रकाव्य के साथ सापेक्षिक सम्बन्ध है। चित्र स्रष्टा कलाकार का जो उत्तर दायित्व चित्र सृष्टि मे है वही चित्र काव्य के मूल्याकन मे मूल्याकन कर्ता का भी हैं। किसी वस्तु या भाव के प्रति समग्र दृष्टि का नाम ही चित्र है। -

वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने कवित्व शक्ति हेतु तीन हेतुओ का वर्णन किया है -

शक्ति र्निपुणता लोक शास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।

काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे।।

काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास - का०३

ग्रन्थकार ने (१) शक्ति (२) लोक व्यवहार, शास्त्र एव काव्य आदि के पर्यालोचन से उत्पन्न व्युत्पत्ति तथा (३) काव्य की रचना शैली और उसके गुण – दोषो के समीक्षक विद्वज्जनो की शिक्षा के अनुसार अभ्यास इन तीनों की समष्टि को काव्य निर्माण की योग्यता को प्राप्त करने का कारण माना है। मेरे विचार से स्रष्टा के लिए ये जितना जरूरी है उतना ही मूल्याकन कर्त्ता के लिए भी। अत 'दृष्टि' ही सृष्टि है को समझने के लिए मूल्याकन कर्त्ता के पास समुचित रस सवेदना का ज्ञान हो, काव्य वस्तु का अनुबन्ध सन्दर्भज्ञान अद्योपान्त होना चाहिए, अर्थ छवि को उदघाटित करने का कौशल होना चाहिए साथ ही साथ मूल्याकन कुशलता का भी होना आवश्यक है।

साराश यह कि चित्र सृष्टि के लिए जो कुशलता, कार्य क्षमता, योग्यता चित्र स्रष्टा के लिए अपेक्षित है, वही मूल्याकनकर्त्ता के लिए भी अपेक्षित है। इन दोनों का तुल्य योग होना अत्यन्त आवश्यक है।

गलितार्थ यह है कि चित्र काव्य के मूल्याकन का मानदण्ड सर्वथा कालातीत, दृष्टिकोण निरपेक्ष और स्थितिशील (Static) नहीं होता हैं। वे ह कृतिया स्थायी एव आगत भविष्य के लिए मगलप्रद होती है जिनमे आने वाले युगसत्यो का मानव के मूलमनोभावो के रागात्मक स्तर पर सफल अकन रहता है। उदाहरणार्थ– वाल्मीकि और तुलसी की शिवैषणा और लोकमगल की भावना से आत – प्रोत अमर कृति कमश रामायण और रामचरितमानस की यह गर्वोक्ति सम्पूज्य है और युगो – युगो तक सम्पूज्य रहेगी –

कीरति भनिति भूति भल सोई।

सुरसरि सम सबकर हित होई।।

राम चरित मानस

यही नहीं मुशी प्रेमचन्द की चाहे जो भी कथा शिल्पी हो वह आज भी अमर और स्तुत्य इसलिए है कि उसमे आगत युगसत्यों का यथार्थ चित्रण सफलता पूर्वक किया है।

चित्र काव्य सर्वथा और सर्वदा सोद्देश्य होता है यह मान्यता उचित ही प्रतीत होती है। चित्र काव्य की अवर काव्य के अतिरिक्त भी और कई आयाम हैं। इसका सम्बन्ध मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का है, ऐसा आधुनिक विवेचकों का मानना है। कभी – कभी बहिर्निष्ठ की अपेक्षा अन्तर्निष्ठ निगूढ़ता से अधिक रहता है। चित्र काव्य का मूल तत्व उपेक्षित तब रहता है जब आलोचक व्यावहारिक आलोचना के स्तर पर उतरते – उतरे अपने को कला पक्ष तक सीमित कर लेता है।

चित्र काव्य मे वह कलाकार सफल माना जाता है जो मात्र कोमल कल्पनाओ का पोषक मात्र न होकर शिव परक भावनाओ का भी सर्जक हो।

राजशेखर की काव्य मीमासा की निम्नाकित पक्ति –

मा भै शशाड्कममसीधुनिनास्ति राहु

रवे रोहिणी वसति कातर किं विभेषि।

प्रायो विदग्धवनिता नवसड्मेषु

पुसा मन प्रचलतीति किमत्र चित्रम्।।

की उपेक्षा कालिदासकी ये पक्तिया –

उपाददे तस्य सहस्ररश्मिस्त्वष्ट्रा नव निर्मितमातपत्रम्।

स तद्दुकूलादविदूर मौलिर्बभौपतदङ्ग दवोत्तमाड्गे।।

अधिक सशक्त और सहृदय हारिणी है, क्योकि इसमे शिवेतरक्षति का उदग्र उद्घोष भी है।

कुछ आलोचक पण्डितराज जगन्नाथ आनन्दवर्धन मम्मट एव विश्वनाथ जैसे आचार्य चित्र काव्य का सम्बन्ध आलड्कारिक अनुभूति से जोडते हैं किन्तु वास्तव मे उनका सम्बन्ध सौन्दर्यात्मक अनुभूति से रहा है। वस्तुत चित्र सृष्टि का सम्बन्ध अहम् से न होकर 'इदम्' से और 'स्वान्त' की अपेक्षा 'परान्त से अधिक है।

यह सत्य है कि प्रत्येक कवि चित्र स्रष्टा नहीं होता है 'द्वित्रा कवय' कहकर इसकी ही आनन्दवर्धनाचार्य ने पुष्टि की है – अत चित्रोद्भावनार्थ अधिक प्रातिभ अर्हता साधन और सश्लेषण शक्ति की आवश्यकता है। चित्र सृष्टि एक ऐसी प्रक्रिया है जिसका अर्थ विश्लेषण से ..र इति सश्लेषण से सम्पृक्त है।

चित्र के मजुल सस्पर्श को ही पाकर कोई काव्य श्रेण्य और वरेण्य हो जाता है और चित्र सरणियो का भी महत्व अधिक हैं क्योकि सत्प्रेरणाओ की निर्झरिणी से नि सृत जल कणो के ग्रहण से मनुष्य मे शेष सृष्टि के साथ तादात्म्य स्थापित करने की उत्कट जीवट शक्ति जगती है। यही कारण है कि मोक्ष की अभिलाषा रखने वाले मुमुक्षु

कवियो की इस लोक की वर्णना से परिप्लुत मरणकामी कविताओ की तुलना मे ऋषियो की इस वाणी कि –

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेत् शत समा"

अर्थात इस लोक मे कर्म करते हुए सैकडों वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिए रा मिलती जुलती कियाशील जिजीविषा अत्यधिक प्रभावोत्पादक है।
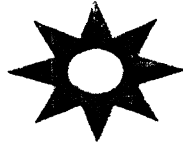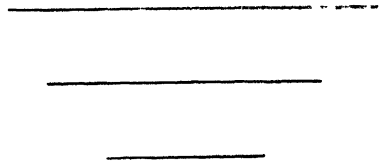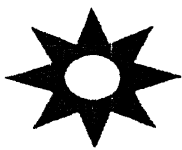
चतुर्थ अध्याय

काव्यस्वरूप निरूपण एवं चित्र मीमासा

मानव मन की रागात्मक चेतना को प्रभावित करने के कारण ही काव्य को आज से नहीं, अपितु अनादि काल से महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा है। सस्कृत काव्य शास्त्र के अनुसार 'काव्य' अपने व्यापक अर्थ मे सर्जनात्मक साहित्य (Creative literature) के पर्याय के रूप मे व्यवहृत होता रहा है, किन्तु आज आधुनिक युग मे वह अपने पथ से हट सा गया है। इस युग मे छन्दवद्ध रचना को ही काव्य कहा गया है।

काव्यलक्षण से काव्यशास्त्र का प्रारम्भ होता है। यद्यपि इस विभिन्न मतावलम्बी एव परम्पराओं वाले संसार में काव्य का लक्षण एव महत्व विभिन्न विद्वानों द्वारा समय–समय पर प्रतिपादित किया है। अत काव्य स्वरूप निरूपण के प्रसंग मे सर्वप्रथम इस पर एक विहगावलोकन अति आवश्यक है।

सर्वप्रथम अग्निपुराण मे काव्य का लक्षण प्रस्तुत किया गया है।[1] वक्तव्य विषय का सरस रीति से प्रतिपादन करने वाला सक्षिप्त पद समूह रूप वाक्य ही काव्य है। वह पदावली गुणालङ्कारयुक्त होनी चाहिये न कि उसे रहित।[2] यद्यपि अग्नि पुराण का समय सुनिश्चित नहीं है, किन्तु काव्य स्वरूप निरूपण प्रसङ्ग मे यह मत दृढ़ता प्रदान

१– 'सक्षेपात् वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली'

अग्निपुराण – ३३७/७

२– काव्यं स्फुटदलङ्कारगुणवद्दोष वर्जितम्।

यो निर्वेदश्च लोकस्य सिद्धमन्नादयोर्जितम्।।

अग्निपुराण – ३३७/८

करता है।[1]

सस्कृत साहित्याकाश मे 'भीष्मपितामह' की सज्ञा से विभूषित 'भामह' का काव्यलक्षण अतिशय प्राचीन है। उन्होने शब्द और अर्थ दोनो के सहभाव को काव्य माना है।[2] यह लक्षण प्रचीनतम होने के साथ–साथ सक्षिप्त भी है। वे सहभाव या सहितौ का क्या अर्थ लेते हैं। यह स्पष्ट नहीं है। अपनी 'काव्य मीमासा' मे राजशेखर ने सहित शब्द की व्याख्या इस प्रकार की है।[3] अर्थात् शब्द और अर्थ का युगपत् भाव ही 'काव्य' है। यथावत् से तात्पर्य यह है कि शब्द और अर्थ इन दोनो का समान मूल्य या समकक्षता से है। कहने का आशय यह है कि शब्द को अर्थ के अनुरूप या अर्थ को शब्द के अनुरूप होना चाहिये यही 'सहितौ' पद से लक्षणकार का आशय है। साहित्य इसी अर्थ और शब्द का सहभाव है।

भामह के बाद दण्डी का स्थान आता है। इन्होने काव्यादर्श, नामक ग्रन्थ की रचना की। दण्डी ने पूर्व के आचार्यों के मतो का उल्लेख किया है।[4] अर्थात प्रजाजनो

१– सस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ४५ – ४७

परिच्छेद पुराण प्रकरणम्

२– "शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्यम च तद् द्विधा

काव्याल० – १/१६ कारि०।

३– 'शब्दार्थयो यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या'

काव्य मीमासा – राज शेखर

४– अत प्रजां व्युत्तपत्तिमभिसन्धाय सूरय ।

वाचा विचित्रमार्गाणा निबबन्धु कियाविधिम्।।

तै शरीर काव्यायानामलङ्कारश्च दर्शिता ।।

काव्यादर्श

की व्युत्पत्ति को ध्यान मे रखकर भामह आदि विद्वानो ने विचित्र मार्गों से युक्त वाचा काव्यवाणी के कियाविधिम् – रचना के प्रकारो का वर्णन किया है जिसमे उन्होने काव्य के शरीर तथा उसके अलङ्कारो का वर्णन किया है। यहा पर 'तै शरीर काव्यानामलङ्काराश्च दर्शिता" से भामह की ओर ही स्पष्ट सकेत है। भामह के सहितौ' पद की अस्पष्ट व्याख्या को काव्यादर्शकार ने इस प्रकार स्पष्ट किया है।[1] इष्ट अर्थात् मनोरम् हृदयाहलादक अर्थ से युक्त पदावली – शब्द समूह अर्थात् शब्द और अर्थ दोनो ही मिलकर काव्य शरीर का निर्माण करते हैं, किन्तु इसे काव्यादर्शकार ने या भामह ने दोनों ने ही काव्य की आत्मा पर कोई प्रकाश नहीं डाला।

दण्डी के बाद वामन आते हैं। वामन ने काव्य शरीर की उतनी चिन्ता नहीं की जितना काव्य के आत्म तत्व का मथन किया। इन्होने 'रीति' को काव्य की आत्मा कहा[2] काव्य के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले अलङ्कारो को काव्य की ग्राहयता और उपादेयता का प्रयोजक मानते हैं।[3] अब प्रश्न यह उठता है कि रीति क्या है तो इन्होने इसे स्पष्ट करते हुये कहा कि विशिष्ट पदरचना का नाम ही रीति है। पदरचना की विशिष्टता का तात्पर्य गुणात्मकता से है। ओज माधुर्य आदि प्रकृतिवाली पदरचना को ही ये विशिष्ट पदरचना मानते हैं। इन्होने गुण और अलङ्कार से अलङ्कृत पदरचना

१– 'शरीर तावदिष्टार्थ – व्यवाच्छिन्ना पदावली'

२– रीतिरात्मा काव्यस्य

-काव्यालङ्कार सूत्र – १, २, ६

३– काव्य ग्राह्यमलङ्कारात्, सौन्दर्यमलङ्कार।

को (शब्द और अर्थ को) काव्य कहा है। पूर्व के प्रचलित शब्द और अर्थ मात्र को काव्य पदवी से अलङ्कृत नहीं कहा। अत अग्राहय कहा है।

कालान्तर मे आने वाले रूद्रट ने लक्ष्य और लक्षण निर्माण मे अपनी अखण्ड मौलिकता का परिचय दिया और रस की महत्ता को विशेष रूप से स्वीकार किया।[1] वही इसके पूर्व वक्रोक्ति जीवितकार ने वक्रोक्ति काव्यस्य जीवितम् कहकर कवि प्रतिभा से प्रदीप्त, सहभाव से व्यवस्थित, वक्रोक्ति गर्भित काव्य ही सहृदयजनो को आस्वाद्य होता हैं। बन्ध मे व्यवस्थित शब्दार्थ ही काव्य है, अर्थात् इनकी दृष्टि मे शब्द और अर्थ की तुलना मे उक्त वैचित्र्य काव्य के लिये अधिक महत्वपूर्ण है।[2]

वक्रोक्ति जीवितकार ने अपने इस लक्षण मे गागर मे सागर भरने का काम किया है। अभी तक पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा जो भी लक्षण लक्षित किये गये थे, उन सबका अन्तर्भाव आचार्य कुन्तक ने इस प्रकार कर दिया है –'शब्दार्थौ सहितौ काव्य' से आचार्य भामह तद्विदह्लादकारिणी वन्धे व्यवस्थितौ से दण्डी की इष्टार्थ व्यवच्छिन्ना पदावली तथा वामन की रीति, 'वक्रकवि व्यापारशालिनि से ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन के व्यञ्जना व्यापार प्रधान ध्वनि का तथा काव्यमीमांसाकार के रस दोनो का अन्तर्भाव करके थोडे मे ही बहुत कुछ कहने का स्तुत्य प्रयास किया है। इतना सब कुछ करते हुये भी अतृप्त कवि 'सहितौ' पद के स्पष्टीकरण का प्रयास भी करते हैं, क्योकि इनके पूर्ववर्ती

१– "तस्मात्तत्कर्त्तव्यम् यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम् "

२– शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि ।

बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाहलाद कारिणी।।

"वक्रोक्ति जीवित' १–७

आचार्यों द्वारा 'सहितौ' पद अस्पष्ट ही रह गया था अतएव वे कहते है।[1]

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा उठाई गयी आपत्ति कि शब्द और अर्थ तो प्रतीति मे सदा साथ–साथ ही स्फुरित होते हैं, फिर 'सहितौ' कहकर आप कौन सी अपूर्व स्थिति दिखलाना चाहते हैं ? इसी का उत्तर देते हुये कुन्तकाचार्य ने कहा कि अनयो (शब्दार्थयो) शब्द और अर्थ के साहित्य का तात्पर्य काव्य सौन्दर्य के लिये न्यूनत्व या आधिक्य से रहित मनोहारी अवस्था है। साहित्य उसी शब्द और अर्थ के सहभाव का नाम है।

साहित्य शास्त्र के आकाश मे उज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे जो स्थिति वामन की रीति सिद्धान्त के लिये, आनन्दवर्धन की ध्वनि सिद्धान्त हेतु और आचार्य कुन्तक की वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक के रूप मे है वही स्थिति औचित्य सिद्धान्त के लिये आचार्य क्षेमेन्द्र की है। इन्होने भी अपनी तरह से काव्य के लक्षण को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। वे औचित्य को ही काव्य का मूलतृत्व मानते हैं। 'औचित्य विचार चर्चा' नामक ग्रन्थ मे वे लिखते हैं –

काव्यस्यालमलङ्कारै कि मिथ्यागणितैर्गुणै।
यस्य जीवितमौचित्य विचिन्त्यापिन दृश्यते।।

१– "शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरत सदा।
सहिताविति तावेव किम् पूर्वं विधीयते।।
साहित्यमनयो शोभाशालिता प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्व मनोहारिण्यव्यस्थिति।।" वक्रोक्ति जीवित– १/१६–१७

अलङ्कारारः ाड्कारा गुणा एव गुणा सदा।

औचित्य रस सिद्धस्य स्थिर काव्यस्य जीवितम्

काव्य के उज्ज्वल नक्षत्रो मे वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट का स्थान सर्वोपरि एव विद्वद् समादृत भी है। इन्होने भी काव्य के स्वरूप के निरूपण के प्रसङ्ग मे अपनी विलक्षण मेधा का परिचय दिया है – इन का काव्य लक्षण इस प्रकार है –

'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि''।

आचार्य मम्मट ने शब्द और अर्थ दोनो की समष्टि को काव्य कहा है, ये दोनो मिलकर ही काव्य पद वाच्य होते हैं, अलग–अलग नहीं। वे शब्द और अर्थ होने कैसे चाहिये इसका उत्तर आचार्य देते हुये कहते हैं कि वे शब्द और अर्थ 'अदोषौ' दोष रहित, 'सगुणौ' अर्थात् माधुर्य, ओज और प्रसाद इन तीनो गुणो से युक्त हो और अनलङ्कृती पुन क्वापि' का तात्पर्य यह है कि वे शब्द और अर्थ साधारणत अलङ्कार सहित होने चाहिये किन्तु जहा कहीं रसादि की प्रतीति हो रही हो वहा अलङ्कार न होने पर भी कोई बात नहीं।

आचार्य विश्वनाथ ने अपने साहित्य दर्पण नामक ग्रन्थ मे मम्मटाचार्य के इस काव्य लक्षण का बलपूर्वक खण्डन किया है, किन्तु इस बात से आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ दोनों ही सहमत हैं कि साधारण दोषो के होते हुये भी काव्यत्व की हानि नहीं होती है। जैसे कीडो से खाया हुआ प्रबाल आदि रत्न रत्न ही कहलाता है, उसी प्रकार जिस काव्य में रसादि की अनुभूति स्पष्ट रूप से होती रहती है, वहा दोष के होते हुये

भी काव्यत्व की हानि नहीं होती।[1]

काव्य प्रकाशकार के इस लक्षण पर आपत्ति न केवल विश्वनाथ ने अपितु रसगङ्गाधर कार आचार्य जगन्नाथ ने भी किया, किन्तु इनकी आलोचना अलग ही है, जहा विश्वनाथ ने विशेषण भाग का खण्डन किया, विशेष्य भाग पर कुछ भी नहीं, कहा, वहीं पण्डित राज ने विशेष्य भाग की आलोचना तो की है किन्तु विशेषण भाग को छुआ तक नहीं। 'शब्दार्थौ' पद पर पण्डितराजजगन्नाथ को आपत्ति यह है कि काव्यत्व न तो शब्द और अर्थ दोनों की समष्टि मे रहता है और न तो व्यष्टि मे अपितु काव्यत्व मात्र शब्द मे रता है। इसलिये काव्यत्व न तो शब्द तथा अर्थ मे व्यासज्यवृत्ति से और ने प्रत्येक पर्याप्त दृष्टि से ही होता है। काव्यत्व शब्दार्थ उभयनिष्ठ धर्म नहीं है। केवल शब्द निष्ठधर्म है।[2] पण्डितराज ने इसलिये काव्य का लक्षण करते हुये लिखा है– रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।[3]

१– "कीटानुविद्धरत्नादि साधारण्येन काव्यता।

दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगम स्फुट ।।

२– यत्तु प्राञ्च (काव्य प्रकाशकारादय) —— शब्दार्थौ काव्यमित्याहु, तत्र विचार्यते

तस्माद्वेदशास्त्रपुराणलक्षणस्येव काव्यलक्षणस्यापि शब्दनिष्ठतैवोचिता।।

रसगङ्गाधर, पृष्ठ – ५

३– 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द काव्यम्'

रसगङ्गाधर, पृष्ठ – ४

नागेश भट्ट ने पण्डितराज की आलोचना 'नोचिता' कहकर दिया है। न केवल नागेश अपितु अन्य आचार्यों ने शब्द और अर्थ दोनों मे ही काव्य माना है। केवल पण्डितराजजगन्नाथ ही इसके अपवाद हैं।

कतिपय आचार्यों के इस सम्बन्ध में निम्न वचन उद्धृत किये जा सकते हैं–

१– "गुणालङ्कार सहितौ शब्दार्थौ दोषवर्जितौ" – विद्यानाथ

२– शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्य च तद् विधा – भामह

३– शब्दार्थौ काव्यम् – रूद्रट

४– अदोषौ सगुणौं सालङ्कारौं च शब्दार्थौ काव्यम् – हेमचन्द्र

५– काव्यशब्दोऽय गुणालङ्कार सस्कृतयो शब्दार्थयो वर्तते – वामन

गलितार्थ यह है कि शब्द और अर्थ दोनो मे ही काव्यत्व हैं। यही पक्ष बहुजन समादृत है और यही मान्य है। पण्डितराज की आलोचना युक्ति सङ्गत नहीं है।

ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्द वर्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मामाना। अपने ध्वन्यालोक ग्रन्थ मे उन्होने यह बात उठाई है कि पूर्ववर्ती आचार्यो द्वारा भी अलिखित परम्परा के रूप में भी सतत व्यवहृत होने से यही पक्ष मान्य है।[1]

---

१ काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य समाम्नातपूर्व –

स्तस्याभाव जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।

केचिद्वाचा स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीय

तेन ब्रूम सहृदयमन प्रीतये तत्स्वरूपम्।। ध्वन्यालोक १ –१

पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा रूपित काव्य शरीर की पृष्ठभूमि के रूप मे काव्य पुरूष की कल्पना करते हुए आचार्य राजशेखर ने अपने काव्यमीमासा मे इसे स्पष्ट करते हुए केवल रस को ही काव्य की आत्मा माना।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ के पूर्व उनके ही समान भाषा पर अधिकार रखने वाले आचार्य विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ 'साहित्यदर्पण' मे रस को अधिक महत्त्व प्रदान करते हुए लिखा है कि 'वाक्य रसात्मक काव्यम्' रसात्मक वाक्य ही काव्य है। अब प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या काव्य मे रस परिपाक अनिवार्य हैं या नही। यदि इसका उत्तर हा मे दिया जाय तो दूसरा अर्थ यह हुआ कि ऐसी स्थिति काव्य मे सर्वत्र दुर्लभ ही नहीं असमव है। कहीं–कहीं काव्य मे भाव उद्दीप्त होकर ही रह जाते हैं और ये उद्दीप्त भाववाली रचनाये तो किसी भी दशा मे इस काव्य की कोटि मे नही आ पायेगी। अत यदि इसकी अपेक्षा अनुभूति सौन्दर्य पर बल दिया जाय तो वह अधिक, समर्थ और ठोस हो सकता है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रसगगाधर' मे काव्य के स्वरूप को इस तरह परिभाषित किया है "रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्" अर्थात्

---

१ शब्दार्थौ ते शरीर, सस्कृत मुखम्, प्राकृत बाहु, जघनमपभ्रश, पैशाच पादौ, उरो मिश्रम्। सम प्रसन्नो मधुर, ओजस्वी चासि। उक्तिपण च ते वच, रस आत्मा, रोमाणि छन्दासि, प्रश्नोत्तर प्रवह्निकादिक च वाक्केलि, अनुप्रासोपमादयश्च त्वामलड कुर्वन्ति।

काव्य मीमासा १३ – १४

रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द काव्य है। इस परिभाषा मे 'रमणीय शब्द अधिक ग्राह्य है। इससे ध्वनि, भाव, अलङ्कार इत्यादि काव्य की परिधि मे आते हैं। पण्डितराज ने मात्र 'शब्द' का प्रयोग किया है अर्थात वे शब्द को ही काव्य मानते हैं न केवल अर्थ या शब्द और अर्थ दोनो को। उवनके अनुसार काव्य मूलत शब्दरूप (उक्ति रूप) है, अर्थ तो शब्द का विशेषण है।

इनकी प्रबुद्ध विलक्षणता और पाण्डित्य पूर्ण शैली से प्रभावित होकर 'सुशील कुमार डे' ने पण्डितराज की प्रतिभा प्रशस्ति में लिखा है।[१] – इन्होने प्राचीन और नवीन मे सामजस्य स्थापित करने के साथ – साथ प्राचीनो के सिद्वान्तों मे अपनी निपुणता प्रदर्शित की है। यहा तक कि मम्मट और रूय्यक के सम्प्रदाय ने इनसे बहुत कुछ प्राप्त किया है।

इसी सन्दर्भ मे चित्र मीमासाकार अप्पय दीक्षित की कृतियों मे काव्य लक्षण ही नहीं है, यह इस नियम के अपवाद है कि सस्कृत साहित्य मे काव्य लक्षण से ही काव्य का आरम्भ होता है। यद्यपि चित्रमीमासा की सुधा व्याख्या मे एक काव्य लक्षण निम्नवत् है –[२]

---

१ "He shows himself conversant with the poetic theories of endeavours to harmonise with the new currents of thought Alongwith some other important writers of the new school, Jagannath makes a reaction in this respect and the school of Mammat and Ruyyaka does not receive from him unqualified homage " History of Sanskrit Poetics - S K Dey

२ "काव्य लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेरसाधारण कर्म" – चित्र मीमासा पृ० ११

भले ही इस काव्य लक्षण के साथ – साथ काव्यलक्षणकार का नाम सुधाकार ने नही दिया है किन्तु गहन चिन्तन के उपरान्त यह सिद्ध होता है कि इस काव्य लक्षण की सगति दीक्षित की काव्य शास्त्रीय मान्यताओ से बैठ जाती हैं। चित्र मीमासा मे ऐसे ही अलकार प्रधान वर्णनात्मक अर्थ चित्र काव्य की व्याख्या की गयी है।

इससे यह सिद्ध होता है कि काव्य को दोष रहित, रसान्वित, कलित और रमणीय अर्थ के प्रतिपादन मे सक्षम होना चाहिए।

दुर्भाग्य से सस्कृत साहित्य मे कालान्तर मे इस परम्परा का प्रस्फुटन बन्द सा हो गया और इसका स्थान हिन्दी समीक्षको ने ले लिया। इनमे आचार्य राम चन्द्र शुक्ल, हरिऔध और पाश्चात्य समीक्षको मे ड्राइडन के नाम उल्लेखनीय है। प्रसगानुसार इस पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित नही होगा।

"हृदय की मुक्तावस्था (रस दशा)" के लिए मनुष्य की वाणी जो विधान करती आई है वही काव्य है।"

——आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

" कविता मन की एक विशिष्ट मनोदशा का प्रतिफलन है, वह मनुष्य की उस दृष्टि का नाम हैं, जो वस्तुओ के उन आभ्यन्तर रूपो को देखती है और दर्शाती है जो रूप विज्ञान मे देखे नही जा सकते है। "

—— हरिऔध

ड्राइडन ने भावात्मक और छन्दोबद्ध विशेषण देकर काव्य के स्वरूप पर कोई प्रकाश नही डाला है, वहीं अन्य साहित्यकारों मे मिल्टन ने काव्य मे प्रत्यक्षता और रागात्मकता को आवश्यक माना है। अंग्रेजी साहित्य मे प्रकृति कवि के रूप मे विख्यात वर्ड्सवर्थ की पंक्तिया बहुत कुछ काव्य स्वरूप को रेखाकित करती हैं –

"poetry is the spontaneous overflows of powerful feelings It takes its origin from emotions recollected in tranquility "

अत पूर्व एव पाश्चात्य की विवेचना के उपरान्त हम इस तथ्य पर पहुँचते है कि काव्य रसात्मक होता है जिसमे नीरस पक्ष को भी सरसरूप मे अनुभूतियो के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।

मानव के सम्यक विकास मे काव्य की सृष्टि आवश्यक होती है। जिसमे जीवन के मनोरम सत्य का उद्घाटन हो। वही काव्य सार्थक होता है वस्तुत जिसमे लोक कल्याण की मगलमय भावना हो, सत्य, शिव, सुन्दरम् की उदात्त भावना हो। यहा स्वान्त सुखाय की तृप्ति होती और सहृदय जनो को आत्मानन्द सहोदर की अनुभूति होती हैं। यहीं लोक को यह शिक्षा मिलती है कि "रामवत् व्यवहर्त्तव्यम् न तू रावणादिवत्"। यही "कान्तासम्मित उपदेश" उपदेश ही सार्थक काव्य की श्रेणी मे स्थान पाता है।

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने काव्य के तीन भेद माने हैं –

१ ध्वनि काव्य

२ गुणीभूत व्यग्य काव्य

३ चित्र काव्य।

काव्य शास्त्रीय परम्परा मे ध्वनिकाव्य को उत्तम काव्य, गुणीभूत व्यग्य काव्य को मध्यम काव्य तथा चित्र काव्य को अधम श्रेणी मे रखा गया है।

काव्य भेदो के सम्बधो मे भी आचार्यो मे मतभेद हैं -- विश्वनाथ आचार्य ने साहित्य दर्पण मे काव्य के दो ही भेद माने हैं – ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य। रस सम्प्रदायवादी आचार्यो ने दो ही भेदों को स्वीकृत किया। रस शून्य होने के कारण - तृतीय (अधम) भेद मे उन्हे काव्यत्व अभीष्ट नहीं हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने काव्य के तीन भेद न मानकर कुल चार भेद माने है – तच्चोत्तमोत्तमयोत्तममध्यमाधमभेदाच्चतुर्धा – अर्थात् उत्तमोत्तम, उत्तम , मध्यम तथा अधम।

<u>प्रथम भेद –</u> उत्तमोत्तम काव्य – जिस काव्य मे शब्द और अर्थ (वाच्यार्थ) अप्रधान रहते हुए किसी अन्य अर्थ को अभिव्यक्त करे तो वह काव्य उत्मोत्तम काव्य कहलाता है।[1]

<u>द्वितीय भेद –</u> उत्तम काव्य – अर्थात् जिस काव्य में व्यग्यार्थ अप्रधान रहते हुए ही चमत्कार का कारण हो, वह द्वितीय श्रेणी का काव्य होता है।[2]

---

१ "शब्दार्थौ यत्रगुणीमावितात्मानौ कमप्यर्थमभिव्यक्तस्तदाद्यम्।।"

रस गगाधर – पृ० ६

२ "यत्रव्यग्यमप्रधानमेव सच्चमत्कारकारणम्।"

रस गगाधर – पृ०१६

तृतीय भेद – मध्यम काव्य – 'यत्र व्यग्यचमत्कारासमानाधिकरणो वाच्यचमत्कारस्ततृतीयम्"।

अर्थात् जहा व्यग्यार्थ से होने वाला चमत्कार का और वाच्य अर्थ से होने वाले चमत्कार का अधिकरण असमान हो वहा काव्य का तृतीय भेद होता है।

चतुर्थ भेद – काव्य का चतुर्थ भेद अधम काव्य – अर्थात् जहा अर्थकृत चमत्कार से शब्दकृत चमत्कार उपस्कृत होता हो वहां अधम काव्य होता हैं।

इन सबसे परे हटकर अप्पय दीक्षित ने काव्य के भेद तीन ही माने हैं –

ध्वनि काव्य – जहा वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यग्यार्थ प्रधान हो जैसे –

"निश्शेषच्युतचन्दन स्तनतट निर्मृष्ट रागोऽधरो ।
नेत्रे दूरमनञ्जने पुलकिता तन्वी तवेय तनु ।
मिथ्यावादिनी दूति वान्धवजनस्याज्ञात् पीडागमे।
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

चित्र मीमासा – २६

तुम्हारे स्तनों के किनारों से चन्दन वह गया, अधरों मे लालिमा नहीं रही, आखो का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती, तू झूठ बोल रही हैं। मेरी व्यथा को तू नहीं समझती। तू यहा से नहाने गई थी, उस नीच को मेरा सन्देश देने नहीं गयी।

पद्य में जो 'अधम्' पद का प्रयोग हुआ है उससे नायक का दूती के साथ सम्भोग रूप कृत्य व्यञ्जित हो रहा हैं। अत यहा ध्वनि काव्य है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने प्राचीन आलङ्कारिकों से विरोध और उपपत्ति विरोध

के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अप्पय दीक्षित की व्याख्या न तो प्राचीन आलङ्कारिकों के अनुरूप है और न ही अभीष्ट सिद्धि के अनुकूल ही, अत अमान्य हैं।

प्राचीन आलङ्कारिको से विरोध का तात्पर्य यह है कि ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने "भ्रम धार्मिक" – इस पद्य मे व्कजनो का साधारण्य प्रतिपादित किया हैं। वहीं काव्य प्रकाशकार ने काव्य प्रकाश के फचम उल्लास के अन्त मे कहर है कि सम्भोग के व्कजना का हेतु जो चन्दनच्यवनादि हुआ है वह अन्य कारणो से भी तो हो सकता हैं। सम्भोग से ही हो ऐसा कोई नियम नहीं है जैसा कि दूती ने बावली स्नान को बताया है, ऐसा भी हो सकता है। अत चन्दनच्यवनादि हेतु अनैकान्तिक है।

उपपत्ति विरोध से आशय यह है कि (१)किसी व्यग्यार्थ के प्रति व्यजको का असाधारण होना आवश्यक नही हैं। (२) जो अर्थ व्यजना लभ्य होना चाहिए, वह लक्षणालभ्य हो जायेगा जैसे – "चन्दनच्युत" को यदि सम्भोगजन्य मान ले तो "वापीं स्नातुमितो गतासि' यहा स्नान के साथ चन्दनच्युत का अर्थ वाधित होने से विरोधिलक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही वापीं स्नातुमितोगतासि अर्थात् तदन्तिकमिति – यह व्यजना की प्रवृत्ति नही होगी और व्यग्यार्थ की उपपत्ति भी नही हो सकेगी। (३) व्यजना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नही हो सकेगा। वाच्यार्थ की सिद्धि सभोग रूप व्यग्यार्थ का बोध होने पर ही होगी और उस स्थिति मे व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अग बन जाने से गुणीभूत व्यग्य मे समाहित हो जायेगा।

किन्तु दीक्षित का मत ही मान्य है, जगन्नाथ का नहीं। कोई भी काव्य गुणीभूत व्यग्य का विषय तभी बनता है जब उसमे व्यग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ मे ही रस की विश्रान्ति हो। किन्तु जहा व्यग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यग्यार्थ का बोध कराता है तब वह ध्वनिकाव्य का विषय हो जाता है। प्रस्तुत पद्य मे दूती और नायक के बीच सम्भोग का ही द्योतक 'अधम' पद नहीं है, अपितु इससे नायिका का दूती और नायक के प्रति रोष भी ध्वनित हो रहा हैं, अत यहा ध्वनिकाव्य है।

<u>गुणीभूत व्यग्य –</u> जहा व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो।[1] आचार्य मम्मट ने इसका लक्षण इस तरह किया है –

"अतादृशिगुणीभूतव्यग्य व्यग्ये तु मध्यमम्"

दीक्षित जी ने गुणीभूत व्यग्य का उदाहरण इस प्रकार दिया है –

'प्रहर विरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा।
किमुत सकले याते वाह्नि प्रिय त्वमिहैष्यसि।
अति दिनशत प्राप्य द्रेश प्रियस्य यियासतो।
हरति गमन बालालापै सवाष्पगलज्जलै ।।"

"एक पहर उपरान्त या मध्यान्ह में या अपराह्न में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय! तुम लौट आओगे न? इस तरह कहती हुयी प्रिया जहा पहुँचने मे सौ दिन लग जाते हैं उस दूर देश मे जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आसू बहाकर

---

१ "यत्र व्यग्य वाच्यानतिशायि तद् गुणीभूतव्यग्यम्।"

चित्र मीमासा – पृ० ३२

रोक रही है।"

यहा नायिका अपने मार्मिक वचनो से आसू बहा – बहाकर प्रिय गमन को रोक रही हैं यह तो वाच्यार्थ है, किन्तु यदि तुम पूरा दिन बीत जाने पर भी नहीं आओगे तो मेरे प्राण नही रहेगे यह व्यग्यार्थ है जो कि वाच्यार्थ का उपस्कारक है, अत यहा गुणीभूत व्यग्य है।

पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि अर्थ से ही अश्रु सहित आलाप ही प्रिय गमन निवावरण में समर्थ हैं। अत अर्थ की सगति हो रही है, इस प्रकार जब वाच्यार्थ स्वय सिद्ध है तो व्यग्यार्थ को उसका अग कहकर इसे गुणीभूत व्यग्य मानना अनुचित है।

दूसरा तर्क पण्डितराज ने यह दिया कि यदि व्यग्यार्थ (तत पर प्राणान् धारयितु न शक्नोमि) को अप्रधान मान भी लिया जाय तो उसके अतिरिक्त नायकादि के जो आलम्बन विभाव, अश्रु आदि के अनुभाव और चिन्ता, आवेग आदि के सयोग से विप्रलम्भ श्रृगार ध्वनित हो रहा है। वह इसे उत्तम काव्य की श्रेणी मे ला रहा है, अत यह उत्तम काव्य का उदाहरण है।

किन्तु विप्रलम्भ श्रृगार तब होता है जब विरह ध्वनित हो जाय। यहा तो न विरह घटित हुआ है और न उसे घटित ही होना है, जैसा कि परिहरति 'पद' से स्पष्ट है। अत यहा विप्रलम्भ श्रृगार रूप असंलक्ष्यकम ध्वनि का विषय नहीं हो सकता है। यह गुणीभूत व्यग्य ही है।

चित्र काव्य – तीसरे प्रकार का काव्य चित्र काव्य है। इसका लक्षण आचार्य मम्मट ने इस प्रकार दिया है –

व्यग्य से रहित शब्द चित्र तथा अर्थ चित्र दो प्रकार का अधम काव्य है।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा कि जहा अर्थकृत चमत्कार से शब्द कृत चमत्कार उपष्कृत होता हो वहा अधम काव्य होता है।[2]

अप्पय दीक्षित जी ने चित्र काव्य का लक्षण इस प्रकार किया है – जहा व्यग्यरहित अथवा ईषत् व्यग्य युक्त होते हुए भी वाच्यार्थ सुन्दर हो।[3]

ध्वनिकाव्य मे व्यग्यार्थ प्रधान होता है। गुणीभूत व्यग्य काव्य मे व्यग्यार्थ गौण होता है, चित्र काव्य में व्यग्यार्थ होता ही नहीं और यदि होता भी है तो वह स्फुट नही होता है। यहां व्यंग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलकार द्वारा होती है।

वस्तुत समीक्षोपरान्त निष्कर्ष यहीं निकलता है जो कि मुझे भी मान्य है कि काव्य के तीन भेद जो आचार्य मम्मट और दीक्षित ने बतलाये हैं वे ही तर्क सगत हैं। जगन्नाथाचार्य कृत काव्य के चतुर्धा भेद वस्तुत. इन्हीं तीन में ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं,

---

१ "शब्दचित्र वाच्यचित्रमृव्यग्यत्ववर स्मृतम्"

काव्य प्रकाश १–४–५

२ यत्रार्थचमत्कृत्युपस्कृता शब्दचमत्कृति तदधम चतुर्थम्।

रस गगाधर – १६

३ " यदव्यग्यमपि चारू तच्चित्रम्"

चित्र मीमासा – ३५

अत तीन ही भेद उचित हैं। जगन्नाथ द्वारा उत्तमोत्तम एव उत्तम ये दो काव्य के भेद वस्तुत उत्तम काव्य के ही अन्तर्गत आते हैं। अप्पयदीक्षित का अनेक स्थलो पर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन अनुचित है। सहृदयता से हटकर नैयायिकता को प्रधानता देकर इनके द्वारा अप्पय दीक्षित कि की गयी आलोचना तर्क की कसौटी पर न्यायोचित नहीं है।

अप्पयदीक्षित ने चित्र काव्य के तीन भेद माने हैं – शब्द चित्र, अर्थ चित्र और उभय चित्र। शब्द चित्र मे शब्दालकार, अर्थ चित्र मे अर्थालकार और उभयचित्र मे शब्दार्थालकार होते हैं। इन तीनो मे शब्दार्थ व्यग्य नहीं होता है और यदि होता है तो वह अलकार गोचर ही होता है। इन तीनो को चित्र मीमासा मे अप्पय दीक्षित ने इस तरह से व्यक्त किया है –

शब्द चित्र – जहा शब्दालकार प्रधान हो वहा, शब्दचित्र होता है।[1] जैसे –

नवपलाशपलाशवनपुर
स्फुटपरागपरागतपकजम
मृदु लतान्तलतान्तमलोकयत्
स सुरभि सुरभि सुमनो भरै ।।[2]

---

१ "शब्दविषयकगुणालकारचमत्कृतिविशेषवत्वम्"

चित्र मीमासा पृ० ३५

२ शिशुपाल वधम् – ६–२

श्रीकृष्ण ने कुसुम सौरभ से सुरभित वसन्त ऋतु को देखा जब पलाश के पौधो पर पत्तिया उग आयी थी, कमलो के भीतर पराग भर गया था और (धूप मे) कोमल पत्ते मुरझा गये थे।

यहा यमक और वृत्त्यनुप्रास दोनो ही शब्दालकार काव्य चमत्कृति के आधायक है।

दीक्षित जी ने शब्द चित्र की चित्र मीमासा मे कोई मीमासा नही की है, इससे सिद्ध होता है कि प्राचीन आचार्यो की तरह मे भी कोई महत्त्व शब्द चित्र को नही देते है।

अर्थ चित्र – जहा अर्थालकार प्रधान हो।[1] उदाहरण के रूप मे उत्प्रेक्षालकार का यह प्रयोग काव्य मे वैचित्र्य उत्पन्न कर रहा है –

स छिन्नमूल क्षतजेनरेणु
स्तस्योपरिष्टात्पनावधूत ।
अलकारशेषस्य हुताशनस्य।
पूर्वोत्थितो धूमइवावभाषे ।।

यहा रक्त रञ्जित् भूतल की ज्वलन्त अलकार के साथ तुलना भी की गयी है। यहा उत्प्रेक्षालकार से काव्य मे चमत्कार उत्पन्न हो गया है।

१– "अर्थोपयोगिगुणालङ्कारस्वचमत्कारवत्वम्'

चित्रमीमासा – ३५

उभयचित्र– जहा शब्दालड कार और अर्थालड कार दोनो प्रधान हों जैसे –

वराह कल्याण वितरतु सव कल्प विरमे

विनिर्धुन्वन्नौदन्वतमुदकमुर्वीमुदवहत्।

खुरा धातत्रुटयत्कुलशिखरिकूटप्रविलुठ–

च्छिलाकोटिस्फोट स्फुट घटित मड्गल्य निबह

चित्रमीमासा – ३७

यह वृत्त्यनुप्रास शब्दालड्कार है और रूपक अर्थालड्कार है, दोनो अलड्कार चमत्कार के आधायक हैं इसीलिये दीक्षित ने इसे उभय चित्र कहा है।[1]

वागदेवतावतार मम्मट ने केवल शब्द चित्र और अर्थचित्र भेद को ही स्वीकार किया है। व्यड्ग्यार्थ से हीन होने के कारण चित्र काव्य को अधम कहा है। विश्वनाथ चित्र काव्य को मानते ही नहीं[2] इन्होने 'व्यड्ग्यत्व की हीनता की स्थिति मे काव्यत्व नहीं रहता। ऐसी स्थिति मे व्यड्ग्य न होने पर गुण और अलड्कार भी व्यर्थ हो जावेगे। अत काव्य शास्त्र मे विश्वनाथ के इस चित्र काव्य विरोधी विचार को कोई मान्यता प्राप्त नहीं है। वहीं अन्यो ने यथा ध्वनिवादी आचार्यों मे प्रमुख ध्वन्यालोककार आचार्य आनन्दवर्धन तथा पण्डितराजजगन्नाथ आदि ने व्यड्ग्य के अभाव मे भी अलड्कार घटित चित्र काव्य को मान्यता दी है। इनके मत से व्यड्ग्य क प्रधान

१– "उभयविषयकगुणालड्कारचमत्कृतिमत्वम्"

चित्रमीमासा – ३५

२– साहित्यदर्पण ४–१५५

होने पर काव्य ध्वनि काव्य और गुणीभूत हो जाने पर गुणीभूत काव्य और व्यङ्ग्य के अभाव मे अलङ्कार प्रधान काव्य चित्र काव्य की कोटि में माना जाता है।[1]

चित्रमीमासा मूल रूप से एक आलोचनात्मक एव गम्भीर शैली का ग्रन्थ है। अपने पूर्व कालिक अलङ्कारिको मे वस्तुत जिस यथार्थ विमर्श की आवश्यकता थी इसे उन्होने बहुत हद तक पूरा किया। ये सग्राहक होने के साथ-साथ प्रवीण विवेचक थे। दीक्षित जी ने वस्तुत चित्र सम्बन्धी अभिव्यक्ति को और अधिक प्रौढ एव प्रान्जल रूप मे प्रस्तुत किया।

ये स्पष्ट अभिव्यक्ति वाले आचार्य तथा अलङ्कार का कैसा प्रयोग हो इस तरफ उतना चिन्तित नहीं हैं जितना कि उसके प्रतिपाद्य विषय की ओर इनके विषय और विषय व्यन्जना मे (manner) मे ऐसी असमानता परिलक्षित होती है जिसके कारण पण्डितराजजगन्नाथ को टीका – टिप्पणी करने का अवसर सुलभ हुआ।

चित्र काव्य मे रसादि तत्व का अभाव रहता है। साथ ही साथ व्यग्यार्थ की प्रकाशन शक्ति से भी 'वह शून्य रहता है, केवल शब्द और अर्थ की चमत्कृति से ही काव्य को चित्रित किया जाता है।[2]

१– "प्रधानगुणभावाभ्या व्यङ्ग्यस्यैव व्यवस्थिते।

उभे काव्ये तन्दयद यत्तच्चिमभिधीयते।"

आनन्दवर्धन – ध्वन्यालोक ३ – ६८

२- 'ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहित व्यङ्ग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्ति शून्य च काव्य केवलवाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणौपनिबद्ध मालेख्य प्रख्य यदाभासते तच्चित्रम्।।" "आचार्य आनन्दवर्धन – १

६— परिणाम

७— ससदेह

८— भ्रान्तिमान

९— उल्लेख

१०— अपह्नुति

११— उत्प्रेक्षा

१२— अतिशयोक्ति

कालान्तर मे हिन्दी साहित्य के ऊपर इसका गहरा प्रभाव पडा है। कहीं—कहीं तो इससे प्रभावित होकर इसके लक्षण एव उदाहरण ज्यो का त्यो ले लिये गये हैं, अत हम कह सकते हैं कि दीक्षित जी अपनी इस कृति के कारण आज भी जी जीवित हैं। हिन्दी साहित्य मे मुक्तक काव्य की श्रीवृद्धि दीक्षित जी की देन कही जा सकती है।

हमारा प्रतिपाद्य विषय चित्र मीमासा के सदर्भ मे दीक्षित एव पण्डितराज के विचारो की समालोचना है जिसका आगे के अध्यायो मे कमश विवेचन किया जायेगा। दीक्षित जी की मीमासा को तर्कपुष्ट कल्पना कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं क्योंकि इनकी विचार धारा विभिन्न फलक पर सुनियोजित की गई हैं। चित्रमीमासा के कार्य मे दीक्षित जी को जो आशातीत सफलता मिली है, वे जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचना गहराई तक जाकर प्रस्तुत करते हैं इसे कोई भी तटस्थ आलोचक भली—भाति देख सकता है। यह कितनी विचित्र बात है की दीक्षित जी शब्दालङ्कारो को, उन पर आधारित शब्द चित्रो को नीरस और हेय समझते हैं।[1] इन्होने चित्रमीमासा मे अर्थ चित्र

१— 'शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्त तदाद्रियते कवय न वातत्र विचारणीयमती—वोपलभ्यत् इति शब्दचित्रा शमपहायार्थ चित्रमीमासा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।"

चित्रमीमासा — ४०

को ही महत्व दिया है और उन्हीं के उपस्कारक अलङ्कारो का विवरण दिया। किन्तु इन्होने अलङ्कारो को साधन माना है, साध्य नहीं अलङ्कार प्रधान चित्रकाव्य प्राय वर्णनात्मक हैं या भावात्मक। कल्पना के द्वारा चेतन यक्ष की भावनाओ को अचेतन मेघ से जोड देना सुन्दर भाव प्रवणता का ही परिचायक है। भावनाओ के सहयोग से ही कल्पना चित्र को निर्मित करती है। तर्क का पुट होते ही चित्र बनना समाप्त हो जाते हैं। चित्र काव्य की रचना मे अलङ्कारो का महत्वपूर्ण योगदान है। कहीं वह सादृश्य रूप में कहीं आरोपमूलक या अध्यसाय रूप मे रहता है किन्तु तभी तक जब तक हमारे विचार कल्पना से अपना सम्पर्क बनाये रखते हैं। चित्रमीमासा दीक्षित की अपूर्ण कृति है। इसमे जिन बारह अलङ्कारो का विवेचन किया गया है उसी पर कमश आगे विचार किया जायेगा।

काव्य का भेद करते हुए ध्वनिकाव्य के उदाहरण के रूप में सभी आलकारिक एक मत से "निशेषच्युतचन्दनम्" इस पद्य को उदधृत करते हैं।१। हॉ इस बात मे सभी मे भेद अवश्य है कि कोई इसमे अभिधामूलध्वनि मानते हैं तो कोई लक्षणामूलध्वनि।२। यहॉ पहले तो अभिधेयार्थ और लक्ष्यार्थ मे वैपरीत्य रूप सम्बन्ध के रहने से विपरीत लक्षणा द्वारा लक्ष्यार्थ निकल रहा है। जहॉ तक आचार्य मम्मट, जगन्नाथ एव अप्पय दीक्षित इत्यादि का प्रश्न है वे अभिधामूलध्वनि स्वीकार करते हैं और विश्वनाथ ने तो लक्षणामूलध्वनि स्वीकार किया है। अभिधामूलध्वनि को स्वीकार करने वाले अप्पय दीक्षित के मतानुसार – "तेरे स्तनो के अग्रभाग का चन्दन धुल गया, अधरो में लालिमा नहीं रही, ऑखों का काजल पुत गया, देह पुलकित है। दूती! तू असत्य बोल रही है। मेरी कथा को न समझने वाली तू यहॉ से बावली में नहाने गयी थी, उस नीच व्यक्ति को मेरा सन्देश देने नहीं गई।

यहॉ नायिका दूती से कह रही है कि तेरे अगो – प्रत्यगो से ही यह पता चल रहा है कि तू बावली में नहाकर आयी है, उस नीच को तूने सन्देश नहीं दिया। किन्तु नायिका के कहने का तात्पर्य यह है कि तू उस नीच के साथ सम्भोग करके आयी है। तेरे शरीर की अवस्था ही यह प्रकट कर रही है। अधम पद के प्रयोग से नायक का दूती के साथ सम्भोग व्यजित होने से यहॉ ध्वनिकाव्य है।

---

१ निशेषच्युतचन्दन स्तनतट निर्मृष्टरागोधरो
नेत्रे दूरमनजने पुलकिता तन्वी तवेय तनु ।
मिथ्यावादिनि दूति! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम्।।

चित्रमीमासा पृ० १७

२ साहित्यदर्पण पृ० ८ अत्र तदन्तिकमेव रन्तु गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम्। तस्य च रन्तुमितिव्यगम् प्रतिपाद्य दूती वैशिष्टयाद् बोध्यते।

'रसगगाधर' मे अप्पयदीक्षित की ब्याख्या निम्न प्रकार है –

नि·शेषम् – उत्तरीय को खींचने से चन्दन का च्युत होना सिद्व न हो जाय अत निशेष पद का ग्रहण किया गया है। यह चन्दन च्यवन स्नानादि सामान्य कारणो से नहीं हैं क्योकि उससे सम्पूर्ण प्रदेश ही चन्दनरहित हो जाता अत तटम् पद का ग्रहण करके आलिगन कृत व्यहार को प्रदर्शित करते हुए सम्भोग के चिहन का उद्घाटन किया गया है।

निर्मृष्टरागोऽधर – ताम्बूलादि के विलम्ब व्यवहार से भी लालिमा का क्षीण हो सकता है इस प्रकार की सम्भावना का परिहार करने के लिए ही रक्तिमा की निशेषमृष्टता कही गयी है। स्नानादि कारणो का व्यावर्तन और सम्भोगव्यवहार को पतित करने के लिए ही अधर' पद को विशेष्य रूप से ग्रहण किया गया है। अत उत्तरोष्ठ के रक्तिम रहने से अधरोष्ठ की अरक्तता चुम्बनादि व्यवहार जनित होने से यह भी ध्वनि काव्य का उदाहरण है।

अत गलितार्थ यह है कि पण्डितराज की दृष्टि में निशेषादि विशेषणो के कारण ही चन्दन च्यवन आदि कार्यों की सम्भोग जन्य होना निश्चित होता है।

यहाँ दोनों के ही मत मे "वापींस्नातुमितो गतासि, तस्याधमस्यान्तिकमिति यह अर्थ व्यगार्थ है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार अप्पयदीक्षित ने जिस प्रकार इसकी व्याख्या की है, उसके अनुसार यह अर्थ व्यग्यार्थ न होकर लक्ष्यार्थ हो जाता है तथा यह पद गुणीभूत व्यग्य के अन्तर्गत समाहित हो जाने से ध्वनिकाव्य का विषय नहीं रह जाता। अप्पयदीक्षित की व्याख्या को दोषयुक्त मानते हुए वे इसमे दो दोष दिखलाते हैं –

१. *प्राचीन आलंकारिक ग्रन्थो का विरोध*

२. *उपपत्ति विरोध*

<u>ग्रन्थ विरोध</u> –

यहाँ प्राचीन आलकारिक ग्रन्थो से तात्पर्य है–ध्वन्यालोक व काव्यप्रकाश से।

मम्मटाचार्य ने काव्य प्रकाश के पचम उल्लास के अन्त मे कहा है कि निशेष इत्यादि पद्य मे चन्दना च्यवनादि को सम्भोग के हेतु "व्यजक' के रूप मे प्रतिपादित किया गया है वह अन्य कारणो से भी हो सकता है जैसा कि 'स्नातुम' के माध्यम से इसी पद्य मे कहा गया है।

अत सम्भोग से ही हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। ।[1]

इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' में आनन्द वर्धनाचार्य ने प्रथम उद्योत मे व्यजनको का साधारण्य ही प्रतिपादित किया है, उनका असाधरण्य नहीं।[2]

अलकारशास्त्र सिद्धात प्रतिपादक साहित्यशास्त्र के मेरूदण्ड स्वरूप मे प्रामाणिक जो मम्मटादि आचार्य हैं वे व्यजको का असाधारण्य स्वीकार नहीं करते है। इस कारण से व्यग्यार्थ के असाधारण्य का प्रतिपादन प्राचीन समस्त ग्रन्थो के विरूद्व है। यद्यपि दीक्षित जी ने शब्दश अपने ग्रन्थ मे काव्यो का असाधारण्य स्वीकार नहीं किया है। फिर भी उनके ग्रन्थो के अवलोकन से यह ध्वनित होता है । अत यहॉ प्राचीन आलकारिको से विरोध है।

<u>उपपत्ति विरोध</u> –

१ यदि निशेष इत्यादि अवान्तर वाक्यार्थो की व्यग्यार्थ के प्रति असाधरण्यता मान ले क्योकि इससे स्नानादि अन्य कारणो का व्यावर्तन होता है तो यह ठीक नहीं है क्योकि उस असाधारण्यता का कोई प्रयोजेन ही नही है। किसी ब्यग्यार्थ के प्रति व्यजको का असाधारण होना आवश्यक नही है। अत व्यजनों के असाधारण होने से व्यग्यार्थ उपपन्न नहीं हों सकेगा।

२ यदि चदनच्वनादि को समोगमात्रजन्य मान भी ले तो भी "वापीं स्नानुमितोगतासि" इस मुख्यार्थ में स्नान के साथ उनका (चदन च्यवनादि) का अर्थ बाधित होने से वहॉ विरोधी लक्षणा की प्रवृत्ति होगी और उससे ही "वापीं स्नातुमितो न गतासि अपितु तदन्तिकम् इति" यह अर्थ ज्ञात हो जाने पर व्यजना की प्रवृत्ति ही नहीं हो पायेगी, और व्यग्यार्थ की उपपत्ति
भी नहीं हो सकेगी। कहने का अर्थ है कि जिस अर्थ को व्यज्जनालम्य होना चाहिए वह लक्षणालम्य हो जायेगा।

---

१ निशेषेत्यादौ गमकतया यानिचन्दन च्यवनादीन्युपातानि तानि कारणान्तरतोपि भवन्ति, अतश्चात्रैव स्नानकार्यतवेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनेकान्तकानि काव्यप्रकाश ५ व्यजनानि पृ०१०६

२ भम् धम्मिअ वैसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण।
गोलाणइकच्छ निकुडवासिणा दरिअसीहेण।। "रसगगाधर पृ० १३"

३ किसी तरह व्यजना की प्रवृत्ति स्वीकार कर लेने पर भी यह पद्य ध्वनिकाव्य का उदाहरण नहीं बन सकेगा। क्योकि चन्दनच्यवनादि को सम्भो। मात्रजन्य कहने से वाच्यार्थ स्वय में आसिद्ध हो जायेगा, स्नानादि के साथ उनका अन्वय न हो पाने के कारण। वाच्यार्थ की सिद्धि तभी होगी जब सम्भोग रूप व्यग्यार्थ का बोध होगा और ऐसी स्थिति में व्यग्यार्थ वाच्यार्थ की सिद्धि का अग बन जायेगा और यह पद्य वाच्य सिद्ध्यगगुणीभूत व्यग्य का उदाहरण बन जायेगा।

अत दीक्षित की व्याख्या प्राचीन आलकारिको के विपरीत होने तथा अभीष्ट सिद्धि के प्रतिकूल होने से उचित नहीं है।

समीक्षोपरान्त यह तथ्य उभर कर आता है कि पडितराज ने ध्वनिकाव्य के उदाहरण रूप मे वर्णित इस श्लोक के अर्थ का ही प्रत्याख्यान करते हुए अर्थ ही बदल दिया है। जहा तक 'अधम' शब्द की बात है इसका अर्थ हीन है और यह हीनता दो प्रकार की हो सकती है। एक जाति से, दूसरे कर्म से। फिर उत्तम नायिका अपने नायक को जाति से ही न तो कह नहीं सकती, रही कर्म की बात तो वह दूती का सभोग ही सिद्ध होता है, नायिका ने नायक द्वारा किये गये अपराधो का स्मरण करके ही ऐसा कहा है।

पण्डितराज के मतानुसार अधम पद से सभोग के व्यजित होकर वाच्यार्थ का उपस्कारक हो जाने से ही इस पद्य में गुणीभूतव्यग्य माना है किन्तु कोई भी काव्य गुणीभूतव्यग्य का तभी विषय बनता है जब उसमे व्यग्यार्थ से उपस्कृत होकर वाच्यार्थ मे ही रस की विश्रान्ति हो, किन्तु जहाँ एक व्यगयार्थ से उपस्कृत वाच्यार्थ किसी दूसरे व्यग्यार्थ का बोध कराता है वहाँ ध्वनिकाव्य का विषय उपस्थित हो जाता है, यहाँ दूती और नायक के बीच सम्पन्न सभोग का सूचक अधम पद नहीं है अपितु यहाँ नायिका का नायक और दूती की के प्रति क्रोधित होना भी अभिव्यजित हो रहा है।

दूसरी बात महत्वपूर्ण यह है कि प्रामाणिक मम्मटाचार्य के अनुसार वाच्य चमत्कार की अपेक्षा से गुणीभूतव्यंग्य चमत्कार कही समकक्ष और कहीं न्यून होता हो तो वहाँ गुणीभूतव्यग्य का अवसर उपस्थित होता है, किन्तु यहाँ पर व्यग्य चमत्कार न तो न्यून है और न समकक्ष है।

अत मम्मटादि प्रामाणिक आचार्यों के गुणीभूतव्यग्य के प्रमुख भेदो मे से भी यहाँ कोई भेद न होने से गुणीभूतव्यग्य का कोई अवसर ही नहीं है।[1]

अत पण्डितराज का किया गया खण्डन खींचतान के अलावा और कुछ नहीं है।

उपर्युक्त प्रसग के अनुसधान के विषय में भी पण्डितराज इस बात से सहमत है कि पूर्व – वासनावासित अन्त करण वाले सहृदयो को ही यह अनुभूति हो सकती है, सभी को नहीं।[2]

फिर भी जल्पवाद का आश्रय लेकर दीक्षित मत की समीक्षा पण्डितराज के तत्कालीन जाति वहिष्कार स्वरूप उत्पन्न मानव दुबर्लता का ही द्योतक है। किन्तु कोमलकान्तपदावली, रचनाकुशल सूक्ष्मातिसूक्ष्म अर्थ के उपस्थापन मे दक्ष पण्डितराज का साहित्यशास्त्र मे अन्वर्थ नाम सार्थक ही है।

चित्रमीमासाकार श्रीमदप्पयदीक्षिताचार्य द्वारा मध्यम काव्य के रूप मे यह पद्य दिया गया है–किन्तु पद्य को देने के पूर्व मध्यम काव्य या गुणीभूत व्यग्य काव्य का लक्षण क्या है? इस पर ध्यान देना ही उचित होगा।

"यत्र व्यङ्ग्य वाच्यानतिशायि तद्गुणीभूत व्यग्यम्"[3] जहॉ व्यग्यार्थ वाच्यार्थ से उत्कृष्ट न हो वहाँ गुणीभूत होता है जैसे–

प्रहरविरतौ मध्ये वाह्नस्ततोऽपि परेऽथवा
किमुत सकले याते वाह्नि प्रियत्वमिहेष्यसि।
इति दिनशतप्राप्य देश प्रियस्य यियासतो।
हरति गमन बालालापै सवाष्पगलज्जलै ।।[4]

---

१ अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्।
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्
व्यङ्गयमेव गुणीभूतव्यङ्गयस्याष्टौ भिदा स्मृता ।। काव्यप्रकाश ५/४५–४६

२ न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम् सा०द० ३/८ का० वासनाचेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतु तत्रादौ न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमासकादीनामपित स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा यद्रागिनामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्तचधर्मदत्तेन – सवासनाना सभ्याना रसस्यास्वादेन भवेत्। निर्वासनान्तु रङ्गान्त काष्ठकुड्याश्मसन्निभा ।। सा०दर्पण ३/८ वृ०

३ चित्र मीमासा पृ० ३२

४ चित्र मीमासा पृ० ३४

"एक पहर उपरान्त या मध्याहन मे या अपराहन में या पूरा दिन बीत जाने पर प्रिय! तुम लौट आओगे न, इस तरह कहती हुई प्रिया जहाँ पहुँचने में सौ दिन लग जाते है उस दूर देश में जाने को उद्यत प्रिय की यात्रा को आँसू बहाकर रोक रही है।"

यहाँ इस पद्य का वाक्यार्थ नायिका द्वारा अपने मार्मिक वचनो से तथा आँसुओ द्वारा अपने प्रिय की यात्रा को रोकना है। और इसके लिए समय सीमा पूरा दिन है कि इसके बाद भी यदि तुम नहीं आये तो मेरे प्राण चले जायेगे। यह व्यग्यार्थ है जो कि वाक्यार्थ प्रियगमन विरोध का उपस्कारक है, अत यहाँ गुणीभूत व्यग्य है।

गुणीभूत व्यग्य के इस अवसर पर पण्डितराज जगन्नाथ को आपत्ति है। प्रथमत उनके अनुसार यहाँ विप्रलम्भ श्रृगार रूप असलक्ष्यक्रम ध्वनिकाव्य है, क्योकि वह पद्य के वाच्यार्थ से उत्कृष्ट है, किन्तु यहा पर विप्रलम्भ श्रृगार न तो घटित हुआ है और न अभी घटित होगा। जैसा कि हरति से स्पष्ट है ।

दूसरी बात पण्डितराज के अनुसार "साश्रुनयन उस बाला के कथन से" क्या तुम एक पहर के बाद लौट आओगे ? प्रियगमन निषेध रूप वाच्य की सिद्धि हो जाती है अत व्यग्य के गौण होकर उसे सिद्ध होने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। 'आलापै, इस तृतीयान्त से भी जाने की निवारण की साधकता ही प्रकट हो रही है। पण्डितराज जगन्नाथ ने उसके बाद न जी सकूंगी। इस व्यग्य को वाच्य सिद्धि का अग मानकर गौण समझ लिया है परनायक आदि विभाव, अश्रु, अनुभाव, चित्त के आवेग को सचारी भाव मानकर उसके सयोग से ध्वनित होने वाले विप्रलम्भ श्रृगार के कारण इसे ध्वनि काव्य कहा है किन्तु यह सम्भव नहीं है क्योंकि सहृदयो के मानस पटल पर आलकारिक मतानुसार यही तत्व सबसे पहले आता है कि ध्वनि काव्य मे आन्तरिक व्यग्य को ग्रहण करके उत्तमोत्तमता स्वीकार नहीं की जा सकती है।

वस्तुत प्रियालाप से नायिका का मुग्धत्व सिद्ध होता है और तादृश आलापों से नायक का चिरकालिक प्रवास रोकना भी एक उद्देश्य है। पार्यन्तिक व्यग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार की जाती है न कि आन्तरिकता को लेकर। दीक्षित ने आन्तरिक व्यग्य को ग्रहण करके गुणीभूत व्यग्य का प्रतिपादन किया है। आन्तरालिक व्यग्य को लेकर उत्तमोत्तमता स्वीकार किये जाने पर काव्य प्रकाशकार का यह लक्षणोदाहरण अनुचित हो जायेगा –

ग्रामतरूण तरूण्या नवमजुलमज्जरीसनाथकरम्

पश्यन्त्या भवतिमुहर्नितरा मलिना मुखच्छाया ।। का० प्र० १/३

इस पर टिप्पणी करते हुए डाक्टर गुज्जेंश्वर चौधरी ने अपनी तलस्पर्शिनी समीक्षात्मक पुस्तक "पण्डितराजकृताप्पयदीक्षित समीक्षा विवेचनम् मे इस तरह से कहा है

"तत्रापि व्यग्यसकेतभगेन वाच्यमुखमालिन्यातिशयरूपानुभावमुखेनैव विप्रलम्भाभासपोषणम् न केवलम् सकेतभगेन। "

यह सिद्धान्त रूचिकर तो तब होता जब इसे पण्डितराज स्वयमेव स्वीकार करते किन्तु काव्यलक्षण के प्रसग मे विश्वनाथ सम्मत काव्य लक्षण के खण्डन के अवसर पर आन्तरालिक व्यग्य की प्रधानता को स्वीकार करने मे क्यो उन्होने स्वय की ही युक्तियो से उसका निरसन कर दिया है।[1]

अत अप्पय दीक्षित का ही मत समीचीन है। पण्डितराज का "खण्डन' प्रौढ़ता वाद का प्रभाव है ऐसा मार्नना चाहिए। अलकारो की समीक्षा करने के पूर्व दीक्षित एव पण्डितराज के मतभेद स्थलों की समीक्षा करना समीचीन ही नहीं अपितु विषय की दृष्टि से अत्यावश्यक भी है। दीक्षित ने आचार्य मम्मट की तरह काव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं —

१ ध्वनिकाव्य – इसमे व्यग्यार्थ की प्रधानता होती है।

२ गुणीभूत व्यग्य काव्य – इसमे व्यग्यार्थ गौण होता है ।

३ चित्रकाव्य – इसमे व्यग्यार्थ होता ही नहीं है और यदि होता भी है तो वह स्फुट नहीं होता है। यहाँ पर व्यग्य के अभाव की पूर्ति गुण और अलकार से होती है और इस काव्य के चमत्कार का यही उपादान कारण है।

दीक्षित ने चित्रकाव्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं –

१ शब्द चित्र – इसमें शब्दालकारो की प्रधानता होती है। प्राचीनाचार्यो की भाति दीक्षित ने भी शब्दचित्र को कोई महत्व नहीं दिया है। शब्द चित्र की नीरसता के कारण व्यग्ययुत होने

---

१ "न तत्रापि कथन्चित्परम्परया रससपर्शोऽस्त्यैवेति वाच्यम् ईदृशरससपर्शस्य गौश्चलति, मृगोधावति इत्यादावति प्रसक्तत्वेन प्रयोजकत्वात्" – रसगगाधर १ काव्यलक्षण पृ० ७

पर भी अनुप्रास मात्र की विशेषता के कारण रस एव ध्वनि के धनी मर्मग्यजन इसे अत्यन्त आदर की दृष्टि से नहीं देखते हैं ।

२ अर्थ चित्र – इसमे अर्थालकारो की प्रधानता रहती है यही इस काव्य का वैशिष्ट्य है।

३ उभय चित्र – जहा शब्दालकार और अर्थालकार दोनो हो वहा उभय चित्र काव्य कहा जाता है।

मम्मट् ने उभय चित्र को नहीं माना है, इनके अनुसार चित्र काव्य के केवल दो ही भेद हैं। शब्द चित्र और अर्थचित्र। व्यग्यहीन होने के कारण चित्रकाव्य अधम भी है।[1]

विश्वनाथ चित्रकाव्य को नहीं मानते हैं।[2] काव्य मे विश्वनाथ के चित्र काव्य विरोधी विचारों की मान्यता नहीं हैं। दूसरी ओर ध्वनिवादी आचार्यो ने भी जिनमे ध्वनिकार आनन्दवर्धन।[3] तथा पण्डितराज जगन्नाथ।[4] प्रमुख हैं। व्यग्य के अभाव मे भी अलकारघटित चित्रकाव्य को मान्यता दी है।

अलकारवादी आचार्य दीक्षित व्यग्य की अपेक्षा चित्रकाव्य को किसी भी स्थिति मे न्यून नहीं मानते हैं। न केवल चित्र काव्य के अस्तित्व को स्वीकार किया बल्कि उसके महत्व को भी स्वीकार किया इतना सब होने के बाद भी दीक्षित जी शब्दालकारो को उन पर आधारित शब्द चित्रों को नीरस और हेय समझते हैं।[5]

---

१ शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यग्य त्ववर स्मृतम् – काव्यप्रकाश १/४

२ साहित्यदर्पण ४/१५५

३ प्रधानगुणभावाभ्या व्यग्यस्यैव व्यवस्थिते।
उभेकाव्ये तदन्यद् यत्तत्चित्रमभिधीयते।। ध्वन्यालोक ३–६८

४ रसगगाधर – १ पृ० ७२ – ७५

५ शब्दचित्रस्य प्रायो नीरसत्वान्नात्यन्त तदाद्रियन्ते कवय, न वा तत्र विचारणीयमतीवोपलभ्यत इति शब्दचित्राशमपहायार्थ चित्रमीमासा प्रसन्नविस्तीर्णा प्रस्तूयते।। चित्रमीमासा पृ० ४०

चित्रमीमासा के सन्दर्भ में हम चित्रकाव्य के उपस्कारक प्रमुख अलकारो का ही विवेचन करेगे वे अलकार १२ हैं –

१	उपमा	२	उपमेयोपमा	३	अनन्वय	४	स्मरण
५	रूपक	६	परिणाम	७	सन्देह	८	भ्रान्तिमान्
९	उल्लेख	१०	अपह्नुति	११	उत्प्रेक्षा	१२	अतिशयोक्ति

यहाँ प्रसगत प्राप्त अलकारो की विवेचना करने के पूर्व अलकार क्या हैं, अलकारो का कमिक विकास कैसे हुआ? विभिन्न अलकारवादी आचार्यो के मत मे अलकार कितने हैं? अलकारो की विभिन्नता का मूल क्या है ? अलकारो का विभाग कैसे हुआ? अलकारो की परस्पर विभिन्नता का कारण क्या है इत्यादि पर भी विचार कर लेना अप्रसागिक नहीं होगा अपितु विषय को समझने मे आसानी होगी। "काव्यशोभाकरानधर्मान"।[1] से काव्य के सौन्दर्याधायक तत्व ही अलकार हैं। अलकार के सर्वानुगत सामान्य लक्षण के प्रसग मे प्राय आचार्य भरत, भामह इत्यादि ने भी कुछ नहीं लिखा।

वामन ने "काव्यशोभाया कर्तारोधर्मा गुणा" कहकर दण्डी के दिये गये लक्षण से वैमत्य स्थापित कर दिया। कालान्तर मे उद्भट एव रूद्रट ने भी कोई सामान्य लक्षण नहीं लिखा। काव्यावतार आचार्य मम्मट ने अलकार का लक्षण प्रस्तुत करते हुए लिखा कि —

उपकुर्वन्ति त सन्त येऽगद्वारेण जातुचित्।

हारादिवदलकारास्तेऽनुप्रासोपमादय ।। काव्य प्रकाश

इसकी व्याख्या प्रदीपकार ने करते हुए लिखा –

" तथा च रसोपकारकत्वे सति तदवृत्तिव तथात्वे सति रसव्यभिचारित्व, अनियमेन रसोपराकत्व चेति सामान्य लक्षणत्रयमलकाराणाम्"

अर्थात रसोपकारक होते हुए भी रस मे नहीं रहने वाला, रसोपकारक होता हुआ भी नियम से रस का सहवर्ती न होने वाला, नियम से रसोपकारक न होने वाला यह तीन लक्षण

---

१ "काव्यशोभाकरान् धर्मानलकारान् प्रचक्षते" दण्डी – काव्यादर्श

सामान्य अलकार के हैं। किन्तु ये तीनों ही लक्षण अतिव्याप्त दोष से ग्रस्त हैं। यथा प्रथम लक्षण की अतिव्याप्ति रस के आलम्बन विभावो मे हैं। दूसरे लक्षण की अतिव्याप्ति रस के उद्दीपन विभाओ में हैं एव तृतीय लक्षण की अतिव्याप्ति कलश एव खजनादि में हैं। आचार्य द्वारा उपस्कुर्वन्ति केस्थान पर उपकुर्वन्ति लिखना भी महान् आश्चर्य का द्योतक हैं। अत यह भी अलकार का सामान्य लक्षण नहीं हुआ। इसका सामान्य लक्षण करते हुए एक स्थान पर कहा गया कि – "अपरागीभूतरसभावादिभिन्नव्यग्यभिन्नत्वे सति अनुप्रासोपमादि विशिष्टशब्दार्थान्यतरनिष्ठा या समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कारनिष्ठकार्यतानिरूपितसमवायसम्बन्धावच्छिन्नतादृश– ज्ञाननिष्ठकारकतानिरूपितविषयित्वसम्बन्धवच्छिन्नावच्छेदकतातन्निरूपितालकारीयस्वरूपस म्बन्धावच्छिन्नावच्छेदकत्वमलकारत्वम्।।'

अर्थात अपरागीभूत जो रसभावदि, उससे भिन्न जो व्यग्य उपमादि उससे भिन्न होताा हुआ, अनुप्रासादि विशिष्ट शब्द या उपमादि विशिष्ट अर्थ दोनो मे से किसी एक मे रहने वाली समवाय सबन्ध से अवच्छिन्न हुई जो चमत्कारनिष्ठ कार्यता, उससे निरूपित जो समवाय सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई अनुप्रासादि या उपमादि से युक्त शब्द या अर्थ के ज्ञान में रहने वाली कारणता, उससे निरूपित की गई जो विषयिता सम्बन्ध से अवच्छिन्न हुई, चमत्कारजनकतावच्छेदकता, उसका जो अलकारीय स्वरूप सम्बन्ध से अवच्छेदक हो वह अनुप्रासादि या उपमादि अलकार हैं।

जहाँ तक अलकारो के विकास का प्रश्न है, वह ससार की सर्वप्रथम पवित्र पुस्तक ऋग्वेद की ऋचाओ मे प्रचुर रूप में विद्यमान हैं। निरूक्तकार यास्क की महिमा से प्राचीन निरूक्तकार गार्ग्य का नाम उपमा के लक्षणकार के रूप मे हमारे सम्मुख आता है उपमा का सामान्य लक्षण 'यद्वैतत् तत्सदृश भवति' यथा अग्निरिव खद्योत यह उदाहरण दिया है। अप्रसिद्व गुणवाले व्यक्ति का प्रसिद्व गुण वाले व्यक्ति के द्वारा गुणो का प्रकाशन ही उपमा है यथा माणवकोऽय सिह ।

वैदिक ऋचाओं में अलकारों का उदाहरण –

तद्विष्णो परम पद सदा पश्यन्ति सूरय दिवीव चक्षुराततम्। ऋक् १/१२/२०

सिहा इव ना नदन्ति प्रवेतस पिशा इव सुप्पिश विश्ववेदस ।। ऋक् १/६४/८

शन्नो देवीरभीष्टये शन्नो भवतु प्रीतये। शयोरभिस्रवन्तुन ।। साम० १/३३

आत्मान रथिन विद्धि, शरीर रथमेंव तु। कठो० १/३

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समान वृक्ष परिषस्वजाते।

तयोरेक पिप्पल स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति। मुण्ड–३/१/१

अजामेका लोहितशुक्लकृष्णा बहवी प्रजा सृजमाना सरूपा।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोन्य ।। श्वेता ४/५

वाग्वैतेज। शतपथब्राह्मण

इस तरह हम देखते हैं कि वेद अलकारो से भरे पड़े हैं। उसके बाद लोक मे भी अन्य ग्रन्थो के अप्राप्त होने के कारण भरतमुनि प्रथम प्रामाणिक आचार्य हैं। इन्होने नाट्यशास्त्र में मात्र उपमा रूपक, दीपक और यमक ये चार अलकार ही लिखे हैं। अग्निपुराण मे १६ अलकार, विष्णु धर्मोत्तर उपपुराण मे १८ अलकार, भटिटकाव्य मे ३८ अलकार, भामह ने ३८ दण्डी ने ३७, वामन ने ३१, उद्भट ने ४१, रूद्रट ने मिश्रित अलकारों की सख्या ७३, महाराज भोज ने कुल ७२, आचार्य मम्मट ने ७४, रूय्यक ने ८२, वाग्भट प्रथम ने ३६, हेमचन्द्र ने ३५, पीयूषवर्ष जयदेव ने ६०, विद्याधर ने ८६, विद्यानाथ ने ७४, द्वितीय वाग्भट ने ६८, विश्वनाथ ने ८४, नरेन्द्रप्रभूसूरि ने ७४, भावदेव सूरि ने ५७, आचार्य जिनसेन ने ७६, श्री विश्वेश्वर पण्डित ने ६१, श्रीकृष्ण ब्रहमतन्त्र परकाल ने १०४, अप्पय दीक्षित ने ११७, श्रीशोभाकर मित्र ने १०६, पण्डितराज जगन्नाथ ने ७०, गोश्वामी कर्णपूर ने ७२, केशवमिश्र ने २२, विद्याभूषण ने ८६, अच्युतराम ने १०२, भटटदेवशकर ने ११५,अलकारो की चर्चा की है।

इस तरह अलकारों की इयत्ता निश्चित कर पाना सरल नही हैं। वैदिक ऋषियों ने तो इतने अलकार बतलायें है कि उतने लौकिक काव्यशास्त्रियों ने नामकरण भी नहीं कर सके हैं। कुवलयानन्दकार अप्पयदीक्षित ने अलकारो की सख्या ११७ बतलायी है जो कि सर्वाधिक है। शोभाकर के आविष्कृत नितान्त नये अलकारों को मिला दे तो कुल अलकार ११७+३८ = १५५ हो जाते हैं।

वस्तुत जैसे राजा प्रमदादि दोषों से रहित है और न्याय पुरसर शासन करने की योग्यता भी रखता है किन्तु उसका राजभाव विकसित होता है सेना वगैरह उपकरणों से। ही ठीक उसी तरह काव्य की भी स्थिति होती है, काव्य दोषो से रहित एव गुणो से युक्त भले हों किन्तु विलक्षण सुषमा उसमे अलकारो से ही आती है। इसी तरह "न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम्" से भी अलकारो की महत्ता स्वयमेव स्पष्ट है।

काव्य के अलकारो की विभिन्नता का मूल ढूँढने हेतु हमे काव्य के स्वरूप पर विचार करना होगा। शब्द और अर्थ काव्य के शरीर हैं तथा ध्वनि को काव्य की आत्मा कहा है "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्य" ध्वन्यालोक शब्दो मे पहली ध्वनि है, ध्वनि मे अतिशय उसका विचार ही है, इसी के कारण वक्ता कभी शोकापन्न, प्रसन्न, दीन एव व्याकुल दिखायी पडता है जिसका नाम काकु है। अत काकु वक्रोक्ति यह नाम काव्यप्रकाशकार ने ध्वन्याश्रित अलकार का किया हैं।

ध्वनि के बाद वर्ण है। आनुपूर्वी वाले वर्णों का पुन पुन उच्चारण किया जाय तो उनमे एकरूप समता होने से चमत्कार होता है। वर्ण में समतारूप अतिशय है इसे ही "वर्ण साम्यमनुप्रास" कहा है। इसी प्रकार भिन्ना अपि शब्दा भिन्नस्वरूपमपह्नुवते स श्लेष ' इस तरह उत्तरोत्तर अलकार का विशदीकरण होता चला गया।

अब प्रसग प्राप्त चित्रमीमासाके अन्तर्गत अलकारो का निम्न विभाजन हो सकता है जो कि प्राय सभी को मान्य है –

१. सादृश्यमूलक भेदाभेदप्रधान अलंकार यथा –

उपमा, उपमेयोपमा, अनन्वय, स्मरण

२. आरोपमूलक अभेद प्रधान अलकार यथा –

रूपक, अपह्नुति, ससदेह, भ्रान्तिमान्, परिणाम्।

३. अध्यवसायमूलक अलकार यथा –

उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति।

अब अलकारों की परस्पर विभिन्नता के कारण पर विहगम दृष्टि रखना अनुचित न होगा।

१ परिणाम एव रूपक दोनों आरोपगर्भित हैं, किन्तु परिणाम मे जहाँ आरोप्यमाण जिसका आरोप करते हैं वह चद्रादि प्रकृति का उपयोगी होता है और रूपक मे वह उपयोगी नहीं होता है यही इन दोनों में भेद हैं ।

२ उल्लेख एव रूपक दोनों मे आरोप होता है किन्तु उल्लेख एव रूपक मे अन्तर यह है कि उल्लेख मे आरोप का विषय जिसके उपर आरोप करते हैं उसमे आरोप्य के रूप का स्वभाव सम्भव है और रूपक मे वह स्वभाव या स्वरूप सम्भव नहीं है।

३ आरोप के विषय मे सन्देह करना या भ्रान्ति होना एव अपह्नव करना सन्देह, भ्रान्तिमान् एव अपहनुति का परस्पर मे भेदक है।

४   उपमा, अनन्वय एव उपमेयोपमा मे साधर्म्य वाच्य है। सादृश्यमूलकता दोनो मे बराबर है।

५   उपमा मे उपमान लोकप्रसिद्ध होता है, उत्प्रेक्षा मे वह अप्रसिद्ध होता है, यही इन दोनो मे भेद है।

६   उपमा मे उपमान एव उपमेय स्वत भिन्न है, अनन्वय   वे भेद की कल्पना से भिन्न है, यही इनके भेद का कारण है।

७   उपमा मे उपमानोपमेव भाव युगपत् एक काल मे होता है और उपमेयोपमा मे वह भावपर्याय से होता है, यही इनका भेदक है।

इस तरह अलकार इतने ही हैं। ऐसा कह पाना बडा ही कठिन है। आचार्य दण्डी ने तो कहा है कि "कस्तान् कात्स्र्येन वक्ष्यति" कौन ऐसा है जो कि उन अलकारो को सम्पूर्णतया कह सकता है ? अब आगे के अध्याओ मे एक–एक अलकार की चित्रमीमासा के प्रसग मे दीक्षित एव पण्डितराज के अनुसार अन्यो को भी ध्यान मे रखते हुए समीक्षा करना प्रस्तुत शोध के विषय मे प्रसगत प्राप्त है जो कि आगे क्रमश कहा जायेगा।
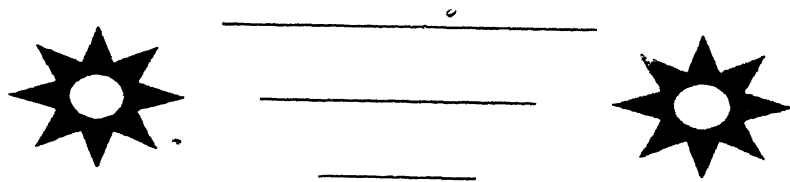
पंचम अध्याय

सादृश्यमूलक भेदाभेद प्रधान अलङ्कारों की समीक्षा

उपमालंकार

साहित्य शास्त्र मे उपमा का सर्वोत्कृष्ट स्थान सभी के द्वारा स्वीकार किया गया है। इसके बिना काव्य मे काव्यत्व को ही अस्वीकार करना पडेगा।[1]

उपमा सभी साधर्म्यमूलक अलकारो का आधार है। दीक्षित ने तो इसे एक नर्तकी कहा है जो विविध अलकार भूमिका मे काव्य मच पर आकर रसिको को रजित करती है।[2]

शास्त्र मे अलकारो की सख्या इतनी ही है ऐसा कोई निशिचित और नियामक तत्व नही है। ध्वन्यालोककार के मत मे अनेक अलकार अब तक प्रकाशित हो चुके है और प्रकाशित हो रहे हैं।[3] कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे किसी रमणी के कमनीय काया मे आभूषणो की कोई इयत्ता नही हैं उसी तरह आभूषणो की भाति अलकारो की भी कोई सीमा नही है। इतना सब कुछ होते हुए भी वाग्वैशद्य काव्यविदो द्वारा सुकुमार शिष्यो के बुद्धिवर्द्धनार्थ अनेक अलकार एव उनके भेद बताये गये हैं। इन सबके बीच मे उपमालकार का लक्षण भेद–प्रभेद वैदिक काल से लेकर नाट्याचार्य भरतमुनि द्वारा भी प्रदर्शित किया गया है। भरतमुनि ने चार अलकारो के मध्य मे उपमा अलकार को प्रथम स्थान दिया है।[4]

---

१ काव्य ग्राह्यमलकारात् – काव्य०सू० सू० १

२ उपमैका शैलूषी सप्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान्।
रजयति काव्यरगे, नृत्यन्ती तद्विदा चेत ।। चित्रमीमासा ४१

३ कि च वाग्विकल्पानामानन्त्यात्सम्भवत्यपि – सहस्त्रशो हि महात्मभिरन्यैरलकारप्रकारा प्रकाशिता प्रकाश्यन्ते च । ध्वन्यालोक १/१ का० वृत्ति ।

४ उपमादीपकचैव रूपक यमक तथा ।
काव्यस्यैते अलकाराश्चत्वार परिकीर्तिता ।।
अलकारास्तु विज्ञेयाश्चत्वारो नाटकाश्रया ।। नाट्यशास्त्र, १७/४३

उपम अलकार के आश्रय से ही कविकुलगुरूकालिदास साहित्याकाश मे उज्ज्वल नक्षत्र के रूप मे हो गये।[1]

उपमा शब्द का पर्यायवाची अर्थ है – तुल्यता समानता, या सादृश्य। व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी उप सामीप्यात् मानम् इत्युपमा' अर्थात सामीप्य या सानिध्य के कारण किये गये मान (तुलना) को उपमा कहते हैं। अर्थात किसी एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ तुलना ही उपमा हैं। यही कारण है कि आलकारिको ने सादृश्यमूलक अलकार के अर्न्तगत उपमा अलकार को प्रश्रय दिया है। दो पदार्थो के बीच समानता के कारण सहृदयो के हृदय मे जो सौन्दर्यजन्य आनन्दानुभूति है उसी की तो प्रधानता है।

अत उपमा का प्राण सादृश्य है। कुछ लोगो ने साधर्म्य को इसका प्राण माना है। उद्योतकार ने इसकी भिन्नता स्पष्ट रूप से स्वीकृत की है –

' सादृश्य च साधारणधर्मप्रयोज्यो धर्मविशेष ' अर्थात् दो पदार्थो अर्थात् उपमान और उपमेय का परस्पर जो सादृश्य है वह उनका एक विशेष धर्म है, जो उनमे अनुगत उनके साधारण धर्म के कारण हुआ करता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने सौन्दर्य को ही अलकार मान लिया तथा उनकी इस बात का वामन ने भी समर्थन किया है। इसकी इसी लोकप्रियता के कारण ही दीक्षित का यह कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है कि उपमा वह नहीं है जो काव्य रूपी रगभूमि मे चित्रभूमिका भेद से विविध रूपो मे सहृदयो के हृदय का रजन करती है।

---

१ उपमाकालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिन पदलालित्य माघे सन्ति त्रयो गुणा ।। नैषधी० पृ०

कुछ लोग उपमान और उपमेय के सादृश्य को लेकर उपमा का लक्षण करते है तो कुछ उपमान और उपमेय के साम्य को तथा दूसरे लोग साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण करते है। प्रथम वर्ग मे अग्नि पुराण गार्ग्य, भरत, ।[1] दण्डी, शोभाकर मित्र वाग्भट प्रथम जयदेव, अप्पयदीक्षित ।[2] और पण्डितराजजगन्नाथ ।[3] आदि अलकार शास्त्रियो के नाम उल्लेखनीय है।

दूसरे वर्ग मे भामह वामन कुन्तक, विद्यानाथ वाग्भटद्वितीय और विश्वनाथ आदि आलकारिक है। इन लोगो ने साम्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

तीसरे वर्ग मे उद्भट, मम्मट, रूयक, नरेन्द्रप्रभसूरि, हेमचन्द्र, श्रीवत्सलाछन, विद्याधर और केशव मिश्र आदि आलकारिको के नाम उल्लेखनीय है। इन लोगो ने साधर्म्य को लेकर उपमा का लक्षण किया है।

---

१ यत्किचित् काव्यवन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।
उपमा नाम विज्ञेया गुणाकृति समाश्रया।। ना०शा० १७/४४
निरूप्यमाण कविना सादृश्य स्वात्मनो न चेत्।।
प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।। चि०मी० पृ० ७४
उपमितिकिया निष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनमुपमा।
स्वनिषेधा पर्यवसायि सादृश्यवर्णनमुपमा।। चि०मी० पृ० ७४

२ सादृश्य सुन्दर वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालकृति ।
रसगगाधर० आ०२ पृ०२०४

३ विरूद्धेनोपमानेन देशकालकियादिभि ।
उपमेयस्य यत्साम्य गुणलेशेन सोपमा।। का० २/३

उपमालकार के चार अग होते है उपमान, उपमेय, साधारण धर्म और वाचक । वाचक को उपमा प्रतिपादक शब्द भी कहा जाता है। कवि उपमालकार का प्रतिपादन करते समय किन्ही ऐसे दो पदार्थो का चयन करता है जिनका कोई धर्म या तो उन दोनो मे साधारण रहता है या किसी धर्म के आधार पर उनमे साधर्म्य या सादृश्य का विधान कर लिया जाता है। इनमे से एक पदार्थ साधारणधर्म वाला होने से प्रसिद्ध होता है और इसी प्रसिद्ध साधारण धर्म को उपमान कहा जाता है।[1]

जैसे चन्द्रमा मनोज्ञत्व की दृष्टि से प्रसिद्ध है। इसी के साथ मुख उपमित होता है। अत चन्द्रमा उपमान है। इसका अप्रस्तुत, अप्राकरणिक, अप्रकृत, अवर्ण्य आदि नामो से भी बोध किया जाता है। कवि जिस इष्ट पदार्थ का वर्णन करना चाहता है वह उपमेय है, जैसे मुख। उपमेय को प्रस्तुत, प्राकरणिक वर्ण्य या प्रकृत आदि नामो से भी जाना जाता है।

वामन के मतानुसार उपमान को उत्कृष्ट गुण वाला एव उपमेय को न्यूनगुण वाला होना चाहिए।[2] नागेशभट्ट जैसे उद्भट विद्वान् इन दोनो मे परिच्छेद्य–परिच्छेदक भाव स्वीकार करते हैं।[3] वामनाचार्य झलकीकर उपमान को कर्ता तथा उपमेय को कर्म स्वीकार करते है। उपमा मे उपमान हमेशा प्रसिद्ध पदार्थ ही हो ऐसी बात नहीं है, अपितु वह कवि कल्पित भी हो सकता है। भरत, भामह, अप्पयदीक्षित और पण्डितराज जगन्नाथ प्रमुख विद्वानो का यही मत है। ये आलकारिक उपमान के साथ उपमेय का सादृश्य होने पर उपमालकार मानते हैं और उपमान के साथ उपमेय के तादात्म्यादि की सम्भावना होन पर उत्प्रेक्षा स्वीकार करते हैं।

नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरत मुनि के अनुसार उपमेय मे उपमान कवि कल्पित भी हो सकता है जैसे –

क्षारन्तो दानसलिल लीलामन्थरगामिन ।
मतगजा विराजन्ते जगमा इव पर्वता ।। ।४।

---

१ साधारणधर्मवत्त्वेन प्रसिद्ध पदार्थ उपमानम्, तद्धर्मवत्तया वर्णनीय. पदार्थ उपमेयम्। बा०बो०व्या० काव्यप्रकाश उ०१०, पृ०५४५

२ उपमीयते सादृश्यमानीयते येनोत्कृष्टगुणेनान्यत् तदुपमानम्, यदुपमीयते न्यूनगुण तदुपमेयम्। का०सू० बृ० पृ०१८६

३ उपमानत्वं च साधारणधर्मवत्त्वेनेषदितरपरिच्छेकत्वम् तद्धर्मवत्तया परिच्छेद्यत्वम् चोपमेयम्। बा०बो०व्या० का० प्र० ५४४, ५४५

४ नाट्यशास्त्र, १७, ५३

किन्तु मेरे विचार से इसे उत्प्रेक्षानुप्राणित उपमा कहने पर कोई बुराई नहीं है क्योकि पर्वत प्रसिद्ध वस्तु होने से उपमान है और उसमे चलनक्रिया सम्भावित हैं। उत्प्रेक्षा साधन है, और उपमा साध्य। वामनाचार्य का भी यही मत है।[1]

अप्पय दीक्षित के मतानुसार उपमान कवि कल्पित भी रह सकता है। जैसे –

पुष्प प्रवालोपहित यदि स्यान्मुक्ताफल वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठ पर्यस्तरूच स्मितस्य।।

प्रकृतस्थल मे नूतन पल्लव पर रखा पुष्प और मूँगा पर रखा मुक्ताफल उपमान है। ये सभी कविकल्पित हैं । अत जहा पर कल्पित उपमान के साथ उपनित क्रिया की निष्पत्ति होती है वहाँ कल्पितोपमा मानी जाती हैं।

पण्डितराज के मतानुसार उपमा मे उपमान कवि कल्पित और असत्य हो सकता है। उदाहरण के लिए जैसे "त्वायि कोपो ममाभाति सुधाशाविव पावक यहाँ चन्द्रवर्ती आग उपमान है किन्तु चन्द्रमा मे आग का दिखाई पड़ना असम्भव है। यहाँ इस उदाहरण मे उपमान के असम्भव होने के कारण सादृश्य की स्थापना नही हो सकती। प्रत्युत्तर में पण्डितराज का कहना है कि कवि पूर्णत तो नहीं किन्तु खण्डश उपस्थित कर सकता है। अत कोई बाधा नहीं है।[2] इसी प्रकार 'स्तनाभोगे पतन्भाति" मे उपमानभूत मेरूपर्वत, चन्द्रबिम्ब और सर्प प्रसिद्ध पदार्थ है। मेरूपर्वत पर चन्द्रबिम्ब से तो सर्प लटक नहीं सकता है। इसलिए उस पर चन्द्रबिम्ब के सहारे सर्प के लटकने रूप धर्म विशेष की कल्पना करके सर्प को उपमान बना दिया है। कल्पितोपमा मे उपमान सर्वतोभावेन सत्य नहीं रहता बल्कि उसकी कल्पना करके उपमा की सिद्धि की गयी है। अत यहाँ उत्प्रेक्षा साधन है और उपमा साध्य।

---

१ ननुकल्पितायालोकप्रसिद्ध्यभावात्कथमुपमानोपनियम?
गुणवाहुल्यस्योत्कर्षापकर्षकल्पनाभ्याम्। का०सू०बृ०पृ० १८७–८८

२ कविना हि खण्डश पदार्थोपस्थितिमता स्वेच्छया सम्भावितत्वेनाकारेण चन्द्राधिकरणकमनल प्रकल्प्य तेन सह साम्यस्यापि कल्पने बाधकाभावात्। रसग०आ०२,पृ० २०५

यहाँ पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि कल्पित सादृश्य असत्य होने के कारण चमत्कारी नहीं है। इस पर पण्डितराज का कथन है कि जिस प्रकार कल्पित कामिनी के साथ मिथ्यालिगन से भी आनन्द पैंदा होता है उसी प्रकार कल्पित सादश्य भी चमत्कार पैदा कर सकता है। अत यहाँ कल्पित सादृश्य असत्य होते हुए भी आनन्ददायक है। अत इनका असत्य या कविकल्पित होना दोषजन्य नही है।[1]

वामनाचार्य झलकीकरके मतानुसार उपमालकार मे उपमान आदि की सत्यता, असत्यता, वाच्यता और व्यग्यता प्रसक्ति के अनुसार हो सकती है। जैसे "कमलमिव मुखम्' मे सौन्दर्य साधारण धर्म है और यह प्रसिद्ध है। यह शब्दोपात्त नहीं अपितु प्रतीयमान है। यहाँ पर उपमा की सिद्धि इसके प्रसिद्ध होने के कारण की जाती है ।[2]

उपमेव एव उपमान के सामान्यविशेषभावापन्न रहने पर अप्पय दीक्षित उपमिति किया की निष्पत्ति मानते हैं। अत उन्होने अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य मे उक्तार्थोपपादनपरा उपमा माना है। इसके विपरीत पण्डितराज जगन्नाथ सामान्यविशेषभावापन्न रहने पर उपामिति किया की निष्पत्ति नहीं मानते हैं। ऐसे स्थलों पर वे उदाहरण अलकार स्वीकार करते हैं।[3]
उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य को बतलाने के लिए किसी साधारण धर्म की आवश्यकता होती है। यह साधारण धर्म उपमान एव उपमेय दोनों मे समानरूप से उपस्थित रहता है। जो शब्द किन्ही दो पदार्थों का भी साधारण धर्म बतलाता है वह साधारण धर्म वाचक कहलायेगा। महाभाष्यकार ने "उपमानानि सामान्यवचनै ' सूत्र से इसे ही अभिहित किया है।

---

१ कल्पितमसत्सादृश्य कथ चमत्कारजनकमिति तु न वाच्यम्, परमसुकुमारी भवत्कनकनिर्मिताङगया मणिमयदशन काति निर्वासितध्वान्ताया कान्ताया भावनया पुरोऽवस्थापिताया आलिगनस्याह्लादजनकत्वदर्शनात्। उपमानोपमेययो सत्यत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावान्नात्र दोषलेशोऽपि। रसगगा०आ०२, पृ० २०५

२ उपमानादिचतुष्टय च सदसदपि वाच्य प्रतीयमानमपि च भवति। अतएव "त्वयि कोपो ममाभाति सुधांशाविव पावकः" इत्यादौ सुधाशौ पावकस्यासतोऽपि उपमानत्वसिद्धि, 'कमलमिव मुखम्" इत्यादौ लुप्तोपमास्थले प्रसिद्धतया साधारणधर्मस्यानुपात्तत्वेऽपि उपमासिद्धिश्चेति बोध्यम् ।। बा०बो०व्या०का०प्र०पृ० ५४५

३ सामान्याद् विशेषस्य भेदाभावेनोपमितिक्रियाया अनिष्पत्त्या उपमालङ्कृतेरत्रानवतारादुदाहरणालङकारोऽयमतिरिक्त । रसगगा०आ०२ पृ०२३६

जो शब्द किसी भी शक्ति से साधर्म्य सादृश्य और सादृश्य विशिष्ट में से अन्यतर का बोध कराते हैं वे उपमा वाचक कहलाते है। "इव" के अतिरिक्त यथा वा, तुल्य और सदृश आदि अनेक शब्द ऐसे हैं जो उपमा वाचक कहलाते हैं। आचार्य दण्डी ने तो इन सबकी एक बृहद् सूची ही तैयार कर डाली है।

कुछ लोग सादृश्य और साधर्म्य में भेद मानते हैं, जबकि दूसरे लोग इनमे कोई भेद ही नहीं मानते। सादृश्य और साधर्म्य मे भेद को मानने वाले को उपमा के दो भेदो श्रौती और आर्थी भेद इष्ट है। मम्मट इत्यादि विश्रुत आलकारिको ने इवादि शब्दों और इवार्थक वति प्रत्यय के प्रयोग में साधर्म्य को वाच्य तथा सादृश्य को अर्थगम्य स्वीकार किया है। अत इनके प्रयोग में श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि शब्दों और तुल्यार्थक वति का प्रयोग होने पर सादृश्य वत् अर्थ वाच्य होता है और साधर्म्य अर्थगम्य। साधर्म्य की अर्थत प्राप्ति होने के कारण इन स्थानों पर आर्थी उपमा होती है ।

पण्डितराज सादृश्य और साधर्म्य मे भेद तो मानते हैं परन्तु वह सादृश्य को उपमा कहते है। अत. इनके मत में इवादि का प्रयोग होने पर सादृश्य वाच्य होता है। सादृश्य के वाचक होने से इनके मत मे श्रौती उपमा होती है। तुल्यादि का प्रयोग होने पर सादृश्यवत् अर्थवाच्य होता है। मुख्य विशेषता सादृश्य मे न रहने के कारण आर्थी उपमा मानी जाती है। आलकारिकों ने इवादि और तुल्यादि रूप में उपमा वाचक शब्दो को दो भागो मे रखा है। इवादि वर्ग के शब्द जिसके बाद आते हैं उसी की उपमानता की प्रतीति होती है। अर्थात् वही शब्द उपमान होता है। 'मुख चन्द्र इव सुन्दरम् ' मे इसका प्रयोग चन्द्र के बाद हुआ है। अत वही चन्द्र उपमान है। किन्तु इसके विपरीत तुल्यादि कहीं उपमेय मे सादृश्य का बोध कराते हैं तो कहीं उपमान में और कहीं उभय पदार्थो में । अत सादृश्य की उपपत्ति के लिए हमे साधर्म्य का अनुसन्धान करना पडता है। यह अर्थ‍ा प्राप्त होता है। अत तुल्यादि का प्रयोग होने पर आर्थी उपमा मानी जाती है।

उपमा को अधिकाशत आलकारिकों ने अनेकालकारों का उपजीव्य माना है। कोई भी ऐसा युग नहीं रहा जब आलकारिकों ने इस अलकार का प्रयोग न किया हो। वैदिक काल से लेकर आज तक का साहित्य उपमा की अप्रतिम सौदर्यानुभूति से भरा पडा है। कभी-कभी एक

ही मन्त्र मे चार उपमाओं का सन्निवेश मिलता है । जैसे –

अभ्रातेव पुस एति प्रतीची गर्तारूगिव सनये घनानाम्।

जायेव पत्य उशती सुवासा उषासेव निरीणीते अण।।[1]

किन्तु इन अलकारों का लक्षण तो वेदोत्तर काल में किया गया है। सर्वप्रथम गार्ग्य और भरत ने उपमालकार का लक्षण किया। भरत ने चार अलकारो मे से उपमा को प्रथम स्थान दिया । रूद्रट ने सर्वप्रथम अलकारों का जो वर्गीकरण किया है वह वैज्ञानिक था।[2] राजशेखर के मत से उपमालकार अलकारो का शिरोमणि, काव्यलक्ष्मी का सर्वस्व और कविकुल की जन्मदात्री है। केशव मिश्र ने अपने अलकार शेखर नामक ग्रन्थ मे इसका उल्लेख किया है।[3]

रूय्यक ने कुल बीस अलकार माने और उनमे उपमा को बीज रूप से अवस्थित रहने के कारण "अनेकालकारबीजभूता" कहा है। विश्वनाथ आचार्य ने सादृश्यमूलक अलकारो का उपमा को उपजीव्य माना है। अप्पय दीक्षित ने इसके महत्व पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उपमा विविधालकारों के उद्‌गम का स्रोत है। उपमा ही सादृश्य की भावना का थोडा विस्तार कर देने पर तथा उक्ति वैचित्र्य से अनेकबिधालकारो के रूप मे काव्य जगत् में अवतरित हो जाती है।[4] उपमेयोंपमा, अनन्वय,कतिरेक, रूपक और दीपक आदि के मूल मे उपमा ही अनुस्यूत रहती है। इसीलिए अप्पय दीक्षित ने उपमा को "अनेकालकार विवर्तवती" कहा है।[5] अप्पय दीक्षित ने उपमा की तुलना तो ब्रहम से कर डाली। जिस प्रकार ब्रहम ज्ञान होने पर मायाजन्य विविध हृदयावर्जक वस्तुओ से समन्वित ससार से अपने को पृथक् कर लेता है उसी तरह

---

१ हिस्ट्री आफ सस्कृत पोएटिक्स पृ० ३२६—डा०पी०वी०काणे

2 **Rudrat was the first to attempt a scientific classification of figures as based upon certain definite principles, such as vastava, Aupamya, Atisaya and slesh. P V.Kane, History of Sanskrit poetics.**

३ अलकारशिरोरत्न सर्वस्व काव्यसम्पदाम्।
उपमा कविवशस्य मातैवेति मतिर्मम।। अलङ्कार शेखर

४ "सैवोक्तिर्भङ्गीभेदानानेकालङ्कारभाव भजते।" चित्र मीमासा पृष्ठ – ४१–४२

५ एवमुक्तानेकालङ्कार निवर्तवतीयमुपमा।" चित्रमीमासा पृष्ठ –४३

उपमा का ज्ञान हो जाने पर समस्त अलकार सुगम हो जाते हैं।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने उपमा को "विपुलालकारवर्तिनी कहा हैं।[2]

चित्र मीमासाकार ने उपमालकार के कई लक्षण प्रस्तुत किये हैं —प्रथम लक्षण जैसे—

व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षित।
कियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालडकृतिस्तु सा।[3]

भावार्थ यह है कि सादृश्य की स्थापना को अपना लक्ष्य बनाकर उपमान और उपमेय का वर्णित सादृश्य की उपमा हैं। इस तरह अपने उपमा लक्षण के औचित्य का प्रतिपादन करते हुए उन्होनें अपने लक्षण को अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषो से मुक्त बतलाया है।

व्यतिरेकालकार मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति कवि को सादृश्य की स्थापना विवक्षित न होने की वजह से नहीं हो सकती। जैसे 'मुखेन निष्कालकेन न समस्तव चन्द्रमा इस व्यतिरेकालकार के उदाहरण मे उपमान की न्यूनता बतलाई गई हैं। अत उपमिति किया की निष्पत्ति का अभाव होने से उपमा लक्षण की प्रशक्ति नहीं हो सकती हैं।

असिमात्र सहायोऽपि प्रभूतारि पराभवे।
नैवान्यतुच्छजनवत्सगर्वोऽयमहाधृति ।।[4]

केवल तलवार की सहायता से ही प्रचुर शत्रुओ का पराभव करने पर भी महाधैर्यवान् यह राजा अन्य क्षुद्र व्यक्तियो के साथ घमण्ड नहीं दिखलाता है।

अत' यहाँ भी प्रयोजक साधारणधर्मभूत घमण्डकर्तृत्व का निषेध होने से उपमिति किया की निष्पत्ति नहीं होती है। अत यहाँ उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[5]

---

१ तदिद चित्र विश्व ब्रहमज्ञानादेवोपमाज्ञानात्
ज्ञात भवतीत्यादौ निरूप्यते निखिलभेदसहितो सा।। चित्र मीमासा पृ० —४३

२ तत्रापित विपुलालङ्कारान्तर्वर्तिन्युपमा तावद्विचार्यते। रसगङ्गाधर पृ० — २०४

३ चित्र मीमासा पृष्ठ — ३८

४ चित्र मीमांसा पृष्ठ — ६५

५ तथा च व्यतिरेके नातिव्याप्ति, तत्र सादृश्यवर्णनसत्वेऽपि मुखेन निष्कलङ्केन' इत्यादौ साक्षात्तस्यैव निषेधेन नैवान्यतुच्छजनवत् इत्यादौ तत्प्रयोजक धर्म निषेधेन चोपमिति किग्राया अनिष्पत्ते। चित्र मीमासा पृ० ६६

इसी तरह अनन्वयालकार मे भी अतिव्याप्ति नहीं होती है। क्योकि कवि का तात्पर्य उपमानान्तर उपमालक्षण व्यवच्छेद में होता है इसे कवि स्पष्टत न करके उपमानोपमेय भाव सम्बन्ध से अभिव्यक्त करता है। अनन्वयालकार मे उपमा साधन है उपमानोपमेय सम्बन्ध को व्यक्त करने का। वस्तुत अनन्वयालकार मे एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ उपमानोपमेय भाव का वर्णन उपमानान्तर व्यवच्छेद के लिए किया जाता हैं। यहॉ उपमिति किया निष्पन्न नहीं होती। यदि उपमिति किया की निष्पत्ति को स्वीकार भी कर ले तो उपमानान्तर का व्यवच्छेद होने पर भी उपमेंय में अनुपमत्व की प्रतीति नहीं होगी। अनन्वयालकार का फल उपमेय मे अनुपमत्व की प्रतीति कराना है।[1]

'रामरावणयोर्युद्धम् रामरावणयोरिव इत्यादि मे एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ सादृश्य का वर्णन करने से उपमानान्तर का निषेध होता है और अपना ही अपने साथ उपमानोपमेय भाव असभव होने के कारण वर्णित सादृश्य भी तिरोहित हो जाता हैं। यही इस अलकार का निर्गलितार्थ है। अत सादृश्य की स्थापना न होने के कारण उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2]

प्रतीपालकार में भी उपमिति किया की सिद्धि न होने से उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नही होती है। जैसे ——

आकर्णय सरोजाक्षि वचनीयमिद भुवि ।

शशाङ कस्तव वक्त्रेण पामरैरूपमीयते।[3]

हे कमल नयने ! यह निन्दा सुनो। धरती पर मूर्ख लोग तुम्हारे मुख के साथ

---

१ नाप्यनन्वयेऽतिव्याप्ति, तत्रापि स्वेन स्वस्य सादृश्यस्य सदृशान्तर व्यवच्छेदे रूद्ररोदन वपोत्खननाद्यर्थवादेऽसदर्थस्य निन्दास्तुत्योरिव द्वारमात्रतया वर्ण्यमानत्वेनोपमिति कियाया अनिष्पत्ते.। अन्यथा स्वस्य स्वेनोपमिति कियानिष्पत्तौ सदृशान्तरव्यवच्छेदेऽपि सर्वथानुपमत्वद्योतन फल न स्यात्।। चित्र मीमासा, पृ० ६६

२ चित्र मीमासा पृ० ६६

३ चित्र मीमासा पृ० ७०

चन्द्रमा की उपमा देते हैं। "यहाँ कवि को सादृश्य निबन्धन विवक्षित न होकर उपमेय की उत्कृष्टता अभिव्यक्त करना अभीप्सित है । अत यहाँ भी उपमिति क्रिया की सिद्धि न होने से लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती।

"उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहौ इत्यादि स्थल मे भी अप्पय दीक्षित के उपमा लक्षण की प्रसक्ति नहीं है। क्योकि काव्यप्रकाशकार के "यद्यर्थोक्तौ च कल्पनम्"[1] सूत्र से उक्त उदाहरण मे अतिशयोक्ति अलकार है, न कि उपमा।

कल्पितोपमा मे उपमा लक्षण की अव्याप्ति का निषेध श्री दीक्षित जी ने किया है –

"पुष्प प्रवालोपहित यदि स्यान्मुक्ताफल वा स्फुटविद्रुमस्थम्।

"ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरूच स्मितस्य।।[2]

यहाँ पल्लव पर पुष्प की स्थिति और मूँगे पर मोती की स्थिति उपमान हैं और ये उपमान कल्पित होते हुए भी सम्भावित हैं। अत यहाँ उपमा लक्षण की प्रसक्ति होने से यह अव्याप्ति दोष से सर्वथा मुक्त हैं।

इसी तरह "चन्द्रबिम्बादिव विष चन्दनादिव चानल" मे चन्दन से अनल की निष्पत्ति उपमान है। यहाँ कवि को असम्भावित उपमान के ही साथ उपमिति क्रिया की निष्पत्ति इष्ट है। उपमिति क्रिया की निष्पत्ति विवक्षानुसारी होती है। अत उपमा लक्षण मे अव्याप्ति दोष नहीं है।

उपमिति क्रिया निष्पत्ति सत्पदार्थ निबन्धनाधीन न होकर कवि विवक्षा निबन्धनाधीन है। इसलिए लक्षण मे विवक्षित विशेषण साभिप्राय है, सोद्देश्यपरक है, न कि निष्प्रयोज्य।[3]

अनन्वय अलकार मे उपमिति क्रिया निष्पत्ति के अभाव मे उपमा के इस लक्षण की अति व्याप्ति नहीं हो सकती है। क्योकि वहाँ एक पदार्थ का उसी पदार्थ के साथ जो सादृश्य वर्णन है। वह उपमेय में अनुपमत्व की प्रतीति कराने के लिए ही होता है।

---

१ काव्यप्रकाश, उ १०, का०स० १००, पृ० ६२८

२ चित्र मीमासा पृ० ७३

३ व्यापार उपमानाख्यो भवेद्यदि विवक्षित ।
क्रियानिष्पत्तिपर्यन्तमुपमालङ्कृतिस्तु सा। चित्र मीमासा पृ० ६८

वृथा चरसि कि भृग तत्र–तत्र वनान्तरे ।

मालत्या सदृशी क्वापि भ्रमन्नपि न लप्स्यसे।।

यहाँ वक्ता को अप्राप्त पदार्थ के साथ मालती का सादृश्य ही अमीष्ट हैं। यहाँ उपमान शब्दोपात न होने से उपमान लुप्तोप्मा का स्थल हैं। अत यहाँ उपमा लक्षण की व्याप्ति हो जाती है।[1]

उपमा लक्षण इसीलिए दीक्षित ने एक और किया है –

"निरूप्यमाण कविना सादृश्य स्वात्मनो न चेत् ।

प्रतिषेधमुपादाय पर्यवस्यति सोपमा।।[2]

दीक्षित के मतानुसार सामान्य उपमा के पूर्वोक्त दो लक्षणों मे अदुष्ट और अव्यग्यत्व विशेषण् डाल देने पर ये लक्षण अलकारमूत उपमा के लक्षण बन जाते हैं। किन्तु विचारोपरान्त यह तथ्य निगमित होता है कि पूर्वोक्त दो लक्षणो मे ही इनके फलित लक्षण भी निहित हैं। पण्डितराज ने भी इनके फलित लक्षणों को ही विशेषकर खण्डन का आधार बनाया है। पण्डितराज ने उपमा का लक्षण निम्न प्रकार किया है –

"सादृश्य सुन्दर् वाक्यार्थोपस्कारकमुपमालकृति ।"[3]

वाक्यार्थ की शोमा बढाने वाला सुन्दर सादृश्य अलकार उपमा अलकार है।।

सौन्दर्य का तात्पर्य है कि चमत्कार और चमत्कार सहृदयो के हृदय द्वारा प्रमाणित अलौकिक आनन्द हैं।[4] मम्मट की तरह पण्डितराज भी उपमा लक्षण मे उपमान और उपमेय का शब्दोपात्त चित्रण नहीं किया है। बल्कि आक्षेप से ग्रहण किया है जहा उपमान सादृश्य सम्बन्ध का प्रतियोगी होता है वहीं उपमेय उसका अनुयोगीं।

---

१ चित्र मीमासा पृ० – ७४,

२ चित्र मीमासा पृ० – ७४ ·

३ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद्विशदीभूते मनो मुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसवादभाज· सहृदया·। यथोक्तम्

योऽर्थो हृदयसवादी तस्यभावो रसोद्भव ।

शरीर व्याप्यते तने शुष्क काष्ठमिवाग्निना।। लोचन, उ० १ पृ० ७७–७८

पण्डितराज के मत से चमत्कारी सादृश्य का उपमा लक्षण मे समावेश कर देने से अनन्वय अलकार मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। "गगन गगनाकारम्"[1] इस उदाहरण मे सादृश्य वर्णन कवि को इष्ट नहीं हैं तथा वह चमत्कारी न होने से अनन्वय रहित भी है। अत अनन्वय मे चमत्कारी सादृश्य के न होने से लक्षण की प्रसक्ति नही हो सकती है।

"तवाननस्य तुलना दधातु जलज कथम्' इत्यादि व्यतिरेक के उदाहरण मे भी उपमा लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है। यहॉ पर चमत्कार रहित सादृश्य का निरूपण होने के कारण व्यतिरेक मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होती है।[2] अभेद प्रधान रूपक, अपह्नुति, परिणाम, भ्रान्तिमान तथा उल्लेख आदि मे एव भेद प्रधान दृष्टात, प्रतिवस्तूपमा, दीपक एव तुल्ययोगिता आदि कें मूल मे विद्यमान सादृश्य के चमत्कारी न होने से वह उपमा अलकार नहीं है। अत यहॉ भी लक्षण की सगति नहीं हो सकती है। "मुखमिव चन्द्र' इत्यादि प्रतीपालकार के सम्बन्ध मे और "चन्द्रइव मुख, मुखमिव चन्द्र" इत्यादि उपमेयोपमा अलकार मे सादृश्य के चमत्कारी होने के कारण उपमा के क्षेत्र मे दोनों सग्राह्य हैं। अत यहॉ लक्षण की प्रसक्ति अतिव्याप्ति नहीं कही जायेगी।[3] कल्पितोपमा मे कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य वर्णन और कल्पित सादृश्य से आनन्दानुभूति के सिद्धान्त को यदि मान लिया जाये तो इस श्लोक मे उपमा की उपपत्ति हो सकती हैं।

"स्तनाभोगे पतन्भाति कपोला, कुटिलोऽलक ।
शशाक विम्बतौ मेरौ लम्बमान इवोरग ।।"[4]

---

१ गगन गगनाकार सागर सागरोपम ।
रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव ।।

२ रसगगाधर, आ० २ पृ० २०४, प० ११–१३

३ रसगगाधर, आ०२, पृ० २०४

४ रसगंगाधर आ०२, पृ० २०६

यहाँ कल्पित उपमान के साथ उपमेय के सादृश्य की कल्पना कर लेने से कोई बाधा नहीं है। उपमानान्तराभाव कल्पितोपमा का फल हैं। यह वैशिष्ट्य् मे साधक है, बाधक नही।[1]

"परे" से पण्डितराज का मन्तव्य शोभाकरमित्र की ओर जाता है जो उपमानान्तराभाव रूपी फल के कारण कल्पितोपमा को उपमा से अतिरिक्त अलकार मानते हैं। " मित्र" के मतानुसार कल्पितोपमा का फल है उपमानान्तराभाव। अत उपमा मे इस का आविर्भाव नहीं हो सकता है।[2]

पण्डितराज अनन्वय एव कल्पितोपमा इन दोनो में अन्तर मानते हैं। अनन्वय मे एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनो रहता है जबकि कल्पितोपमा मे उपमान एव उपमेय दोनो भिन्न पदार्थ रहते हैं। कल्पितोपमा के लक्षण मे पण्डितराज ने "एकोपमानोपमेयकम" विशेषण डाल दिया है। अत कल्पितोपमा के स्थल मे अनन्वय की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती है।[3] पण्डितराज का फलत्वेन दोनो में साम्य बतलाना उचित नहीं है क्योकि उपमानान्तराभाव अनन्वय का फल तो सकता है किन्तु कल्पितोप्मा का फल नहीं हो सकता है। कल्पितोपमा मे उपमेय के अतिरिक्त कम से कम एक उपमान तो अवश्य रहता है। उसी के साथ उपमेय की उपमा दी जाती है। अनन्वय मे एक भी उपमान नहीं रहता है जबकि कल्पितोपमा मे कम से कम एक उपमान रहता है।

पण्डितराज दीक्षित के उपमा लक्षण से सहमत नहीं है। अत उन्होंने प्रत्येक पद का खण्डन किया है। अप्पय दीक्षित ने अलकारभूत उपमा के अन्तिम दो लक्षणो[4] मे अव्यग्य और

---

१ परे तु अस्या कल्पितोमाया उपमानान्तराभावफलकत्वेनालकारान्तरतामाहु तन्न। सादृश्यस्य चमत्कारितयोपमान्तर्भावस्यैवोचितत्वात्, सन्निरूपितत्वस्य लक्षणे प्रवेशाभावात्।
रस गगाधर आ०२ पृ० २०६

२ फल चात्र प्रतिभटभूतवस्त्वन्तराभावप्रतिपादनम्। अतएव नास्या उपमायामन्तर्भाव। अलकाररत्नाकर सू०स० पृ० ६

३ कल्पितोमायामुपमायामतिप्रसगवारणायैकोपमानोपमेयकान्ति अत्रासत उपमानस्य कल्पनया सदुपताने नास्तीति द्वितीय सदृशव्यवच्छेदस्यास्ति प्रतीति।'
रसगगाधर पृ० २७१

४ चित्र मीमासा पृ० ७४

अदुष्ट आदि विशेषणो को अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोषो से मुक्त रखने हेतु कहा है। किन्तु पण्डितराज का कहना है कि अलक्षण मे भी इसकी प्रसक्ति हो जाने से दीक्षित का अपना उपमा लक्षण दोषयुक्त है, सदोष है।

उपमा लक्षण मे आये अव्यग्य का खडन जगन्नाथ ने इस तरह किया है। श्री दीक्षित ने निर्दोष वाच्य और उपमिति क्रिया की निष्पत्ति करने वाले सादृश्य वर्णन को उपमालकार कहा है। दार्शनिक विचारधाराओ से चिन्तन करने के उपरान्त यह निष्कर्ष निकलता है कि वर्णन को विलक्षण शब्दस्वरूप मानने पर उसके बाच्य होने के कारण तथा वर्णन को विलक्षण ज्ञानस्वरूप मानने पर उसके शब्दवाच्य न होने के कारण उपमा की अर्थालकारता मे बाधा पडती है अत अव्यग्य विशेषण व्यर्थ है।[1]

अप्पय दीक्षित उपमालकार मे सादृश्य वर्णन को वाच्य मानते हैं पण्डितराज वर्णन को द्विविध बतलाकर अव्यग्य विशेषण का खण्डन करते हैं। दीक्षित का आशय यह है कि उपमादिक अलकार चित्रकाव्य के अन्तर्गत आते हैं। मम्मटादि ने भी चित्रकाव्य को अव्यग्य माना है।[2] अप्पय दीक्षित ने भी उसे अव्यग्य ही कहा है।[3] किन्तु पण्डितराज ने अलकार को उपस्कारक मानते हुए कहा कि यदि व्यग्य उपमा भी किसी का उपस्कार करती है तो वह अलकार ही है। यह उपमा गुणीभूतव्यग्य कहलायेगी। यथा—

अद्वितीय रूचात्मान मत्वा कि चन्द्र हृस्यसि।
भूमण्डलमिद मूढ केन वा विनिभालितम् ।।[4]

---

१ अप्पयदीक्षिता पुनश्चित्रमीमासायाम् — 'उपमितिक्रियानिष्पत्तिमत्सादृश्यवर्णनम् अदुष्टमव्यग्यमुपमालङ्कार। स्वनिषेधापर्यवसायि सादृश्यवर्णनम् वा तथाभूत तथा इतिलक्षणद्वयमाहु। तस्य सर्वथैवाव्यङ्ग्यत्वादव्यङ्ग्यत्व विशेषणवैयर्थ्याच्च। रसगगाधर आ०२, पृ०२१०

२ शब्दचित्र वाच्यचित्रमव्यङ्ग्य त्ववर स्मृतम्। का०प्र०उ०१ पृ०२२

३ यदव्यङ्ग्यमपि चारू तच्चित्रम्।। चित्रमी० पृ०३५

४ रसगगाधर आ०पृ० २३७

पण्डितराज के मतानुसार यहा उपमा के व्यग्य होकर अलकार होने से गुणीभूत है। किन्तु दीक्षित ने व्यग्य उपमा के निरसन के लिये जो भी अव्यग्य विशेषण प्रस्तुत किया वह समीचीन नहीं है। पडितराज के अनुसार उपमा वाच्य, लक्ष्य और व्यग्य होकर भी अलकार हो सकती है।[1] किन्तु ऐसा मानने से काव्य की कोटि मे अन्तर पड जायेगा और अव्यवस्था उत्पन्न होगी अत वाच्यालकार मानते हुये उपमा को अवर कोटि मे ही रखना न्यायोचित है।

उपर्युक्त 'अद्वितीयम् रूचात्मान उदाहरण मे पडितराज ने उपस्कार्य और उपस्कारक भाव मानते हुये गुणीभूत व्यग्य माना है यह भी उचित नही है। काव्य मे त्रिविध ध्वनियों की स्वतत्रसत्ता, आनन्दवर्धन, काव्यप्रकाशकार मम्मट ने भी मानी है।[2] यहाँ उपमा अलकार ध्वनि और भावध्वनि के कारण ध्वनिकोटि की है, न कि गुणीभूत व्यग्यकोटि की। अत पडितराज द्वारा दीक्षित के अव्यग्य का खण्डन उचित नहीं प्रतीत होता है।

पडितराज ने अव्यग्य का खण्डन करने के उपरान्त अदुष्ट और उपमिति क्रिया निष्पत्तिमत् विशेषणो को भी व्यर्थ बतलाया और यह सुझाव दिया कि इनके स्थान पर लक्षण कुक्षि मे यदि चमत्कारकारी विशेषण रख दिया जाय तो लक्षण बहुत कुछ ठीक हो जायेगा। पडितराज का यह आक्षेप भी युक्तिसगत नही है। 'गौरिव गवय·' इत्यादि स्थलों मे उपमिति क्रिया की निष्पत्ति नही हो रही है निष्कर्ष यह है कि चमकारी सादृश्य के रहने पर ही उपमिति क्रिया की निष्पत्ति होती है। जगन्नाथ ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[3]

पडितराज ने दीक्षित के लक्षण मे चमत्कारी विशेषण को समाविष्ट करने का सुझाव देते हुए बताया कि 'स्व निषेधापर्यवसायित्व' यह विशेषण निरर्थक हो जायेगा। अत इसकी कोई आवश्यकता नहीं है,। अत व्यतिरेक और अनन्वय अलकारो में सादृश्य के चमत्कारी न होने के कारण ही उनमे लक्षण की प्रसक्ति रूक जायेगी। अत स्वनिषेधापर्यवसायित्व सादृश्य का विशेषण बतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है।[4]

---

१ रसगगाधर आ०२, पृ०२३६–२३७

२ एववस्त्वलङ्काररसभेदेन त्रिधा ध्वनिरत्र श्लोके अस्मद्गुरूभिर्व्याख्यात ।

३ न ह्यनिष्पन्नमापातत प्रतीयमान सादृश्य चमत्कृतिमाधत्ते।
रसगगाधर आ०२, पृ० २११

४ रसगगाधर आ०२, पृ० २११

किन्तु दीक्षित का मन्तव्य अनन्वय और व्यक्तिरेक मे अतिव्यप्ति रोकने का नही बल्कि कुछ और था। पण्डितराज ने अनन्वय और व्यक्तिरेक का प्रश्न उठाकर ठीक नही किया। दीक्षित जी ने लक्षण मे 'उपमिति क्रिया निस्पत्तिमत् विशेषण अनन्वय और व्यक्तिरेक मे अतिव्याप्ति का वारण करने हेतु प्रयुक्त किया। इनका 'स्वनिषेधपर्यवसायि विशेषण रखने का आचित्य बस इतना ही है कि उपमा मे अन्य तत्त्व का निषेध भले ही हो जाय, किन्तु सादृश्य स्थापन का निषेध न हो।

स्तनाभोगे पतन्भाति कपोलात्कुटिलोऽलक ।
शशाकाविम्वितौ मेरौ लम्बमान इवोरग ।।

यहा श्रृगार मुख्य वाक्यार्थ है। वाच्य उपमा उसी का उपस्कार कर रही है। अत यह अलकार स्वरूप है किन्तु पण्डितराज ने इसे अलकार नहीं बतलाया। जगन्नाथ ने स्वय इस स्थल पर कल्पितोपमा स्वीकार किया है। पण्डितराज विरूद्व कथन करते है एक तरफ तो वे इस उदाहरण को अलकारभूत उपमा का उदाहरण बताते है दूसरी ओर दीक्षित के लिए अनलकारभूत उपमा का।

उपमान, उपमेय, साधारणधर्म और उपमावाचक इव आदि इन चारो शब्दो का शब्दत उपादान होने के कारण पूर्णोपमा होती है। इनमें से किसी एक तत्व का अभाव रहने पर लुप्तोपमा होती है।[1] यह लुप्तोपमा अनुपादान भेद से आठ प्रकार की होती है।[2] मम्मट ने समास एव भिन्न–भिन्न प्रत्ययो के प्रयोग के आधार पर पूर्णोपमा के ६ भेद और लुप्तोपमा के १९ भेद बताकर कुछ २५ भेद स्वीकार किए है।

---

१ उपमानोपमेयसाधारणधर्मोपवाचकाना चतुणमुपादाने पूर्णा।
तेषामेकस्य द्वयोस्त्रयाणां वा लोपे सति लुप्ता। चित्रमीमासा पृ० ७७

२ वर्ण्योपमानधर्माणामुपमावाचकस्यं च ।
एकद्वित्र्यनुपादानैर्भिन्ना लुप्तोपमाष्टधा।। कु०का०स०७, पृ०६

साधारण धर्म के स्वरूप निर्देश के आधार पर दीक्षित एव पण्डितराज ने उपमा का वर्गीकरण किया है। उपस्कार्य भेद से भी उपमा के पाच प्रकार होते है।[1] दीक्षित और जगन्नाथ के मत से रूपक के आठ भेदों की तरह उपमा के भी आठ भेद हो सकते है।[2]

साधारण धर्म की वाच्यता आदि के आधार पर उपमा के त्रिविध भेद होते हैं जैसे वाच्य धर्मोपमा, लक्ष्य धर्मोपमा, व्यग्यधर्मोपमा। उपमा के वर्गीकरण का यह आधार जगन्नाथ को अभीष्ट है। उपमा प्रतिपादक शब्दो के आधार पर भी उपमा को वाच्यालकार, लक्ष्यालकार तथा व्यग्योपमा रूप से वर्गीकृत करना जगन्नाथ को अभीष्ट है।[3]

उपमा के कार्य के आधार पर इसके दीक्षित ने त्रिविध भेद किये हैं यथा –

1- स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता

2- उक्तार्थोपपादनपरा

3- व्यग्यप्रधाना

उपमा के वर्गीकरण विभिन्न आधारो से असख्य भेद हैं[4]। अब आगे उपमा का भेद और बारे में विद्वानों के मत वैभिन्न्य का प्रस्तुतीकरण किया जायेगा। मुख्यतया मम्मट एव अप्पय दीक्षित कृत उपमा के भेद का ही प्रतिपादन प्राय विद्वानों को अभीष्ट है। किन्तु पण्डितराज के मतानुसार इन भेद–प्रभेदों में कोई रुचि न होने की वजह से महत्व नहीं दिया गया। मम्मटकृत ६ प्रकार की पूर्णोपमा एव १६ प्रकार की लुप्तोपमा के साथ–साथ अप्पयकृत अतिरिक्त भेद एव पण्डितराज कृत खण्डन प्रस्तुत किए गये हैं।

---

१ इय चैव भेदोपमा वस्त्वलकाररसरूपाणा प्रधानव्यग्याना वस्त्वलकारयोर्वाच्ययोश्चोपस्कारकतया पचधा ।। रस गगाधर २२६

२ एवमष्टौ भेदा रूपकालकारस्य प्राचीनै प्रदर्शिता । एव भेदा उपमाणा अपि वक्तु शक्या,एकत्र प्रदर्शितेन प्रकारेण समवस्थलेऽन्यत्राप्युन्नेतुं शक्या इति न प्रदर्शिता । चित्रमी०पृ० १८१

३ रसगगाधर,आ०२, पृ० २३६

४ अपर्यन्तो विकल्पाना रूपकोपमयोर्यत ।
दिंग्मात्रं दर्शितं धीरैरनुक्तमनुमीयताम् ।। चित्रमी० पृ० १८६

काव्यावतार मम्मट के अनुसार उपमा के जहा २५ भेद हैं, वहीं अप्पयदीक्षित के मतानुसार इसके ३२ भेद हैं। उपस्कारकता भेद से पन्चधा विभाजन होने के कारण क्रमश उक्त २५ भेद १२५ और अप्पय के ३२ भेद१६० हो जाते हैं।

1 व्यग्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे–

अविरतपरोपकरण व्यग्रीभवदमलचेतसा महताम्।

आपातकाटवानि स्फुरन्ति वचनानि भेषजानीव ।।[1]

"भेषजानीव" पद से वाच्य होने वाली उपमा इसी व्यग्यार्थ का उपस्कार करती है।

2- व्यग्यालकार की उपस्कारिका उपमा जैसे–

अकायमानमलिके मृगनाभिपकम्।

पके रूहाक्षिवदन तव वीक्ष्य विभ्रते।।

उल्लासपल्लवितकोमलपक्षमूला–

श्चन्चूपुट चपलयन्ति चकोरपोता ।।[2]

3- रस की उपस्कारिका उपमा 'दलदरविन्द' मे प्रस्तुत है।

4- वाच्य वस्तु की उपस्कारिका जैसे–

अमृतद्रवमाधुरीभृत सुखयन्ति श्रवसी सखे गिर ।

नयने शिशिरीकरोतु मे शरदिन्दुप्रतिम मुख तव।।[3]

5- वाच्यालकार की उपस्कारिका –

प्राय प्रश्न उठता है कि उपर्युक्त उदाहरणो मे एक अलकार दूसरे का उपस्कारक है तो उपस्कार्य होने पर एक अलकार कैसे हो सकता है। किन्तु इसका परिहार यह है कि जिस प्रकार ताटकादि आभूषण कामिनी के कर्ण के प्रति उपस्कारक हैं। आत्म मे वही अन्यो के प्रति अलकार्य हो जाते है। उसी प्रकार रसादि के सान्निध्य में जो उपमादि अलकार अलकार होते हैं वही किसी अन्य अप्रधान अलकार के प्रति अलकार्य हो जाते हैं।

---

१ रसगगाधर पृ० १७२

२ रसगगाधर पृ० १७२

३ रसगगाधर पृ० १७२

उपस्करण भी द्विधा होता है– साक्षात् एव परम्परया। साक्षात् उपस्कारिणी उपमा के भेद उपर्युक्त उदाहरण हैं। किन्तु परम्परया उपस्कारिणी उपमा के उदाहरण निम्नवत् हैं –

'नदन्ति मददन्तिन परिलसन्ति वाजिव्रजा।

युगान्तदहनोपमा नयनकोणशोणद्युति"।।[1]

साधारण धर्म के आधार पर फिर उपमा के ६ भेद हो सकते हैं। ये निम्नवत् हैं –

1- जहा वह धर्म अनुगामी हो। जैसे–

शरददिन्दुरिवाह्लादजनको रघुनन्दन

वनस्रजा विभाति स्म सेन्द्रचापइवाम्बुद।।[2]

2- विम्बप्रतिबिम्बात्मक धर्म का उदाहरण जैसे –

कोमलातपशोणाभ्रसन्ध्याकालसहोदर।

काषायवसनो याति कुड्कुमालेपनो यति।।[3]

इसी तरह से अन्यो का भी उदाहरण यथास्थान रसगगाधर मे उद्धृत है, किन्तु यहा विस्तार भय से प्रसग उचित नही है।

साधारण धर्म के पुन त्रिविध होने से उपादेय, अनुपादेय और उपादेयानुपादेय भेद होते हैं। जिस साधारण धर्म को शब्दत कहने की नियमत अपेक्षा होती है वह उपादेय होता है जैसे–"नीरदा इव ते भान्ति बलाकाराजिता भटा"। जो साधारण धर्म प्रसिद्ध हो एवं शब्दत कथित न होने पर भी जिनका बोध नियमत हो ही जाता है वह अनुपादेय धर्म होते हैं जैसे–"अरविन्दमिव मुखम"। उपादेयानुपादेय धर्म का उदाहरण है–शखवत्पाण्डुरच्छवि। रूपक अलकर के सावयव और निरवयव भेद की तरह उपमा के भी ८ भेद होते है–उपमा के वाच्यत्व, लक्ष्यत्व व व्यग्यत्व से भी त्रिविध भेद होते हैं।

इस तरह पण्डितराज ने विभिन्न दृष्टियों से उपमा का भेद निरूपण किया है।

---

१ रसगगाधर पृ० १७६
२ रसगगाधर पृ० १७४
३ रसगगाधर पृ० १५६

मम्मट ने पूर्णा और लुप्ता रूप से उपमा के दो भेद दि.? हैं तथा लुप्तोपमा के १६ प्रकार कहे हैं।

पूर्णोपमा के प्रथमत —श्रौती और आर्थी दो भेद होते है—वाक्यगा, समासगा, तद्वितगा भेद से पूर्णोपमा के श्रौती के ३ भेद और आर्थी के ३ भेद कुल ६ भेद होते हैं।

लुप्तोपमा सात प्रकार की होती है— उपमानलुप्ता, धर्मलुप्ता, वाचकलुप्ता, धर्मोपमानलुप्ता, वाचकधर्मलुप्ता, वाचकोपमेयलुप्ता, धर्मोपमानवाचकलुप्ता। फिर उपमानलुप्ता दो प्रकार की होती है १ वाक्यगा, २समासगा। धर्मलुप्ता ५ प्रकार की होती है— श्रौती वाक्यगा, आर्थीवाक्यगा, श्रौती समासगा, आर्थीसमासगा, आर्थीतद्वितगा। वाचकलुप्ता के समासगता, कर्मक्यज्जगता, आधारक्यज्गाता, क्यग्यता, कर्मणमुल्गाता, कर्तृणमुल्गाता ये ६ प्रकार के भेद होते हैं।

धर्मोपमानलुप्ता वाक्यगता और समासगता दो प्रकार की होती है । वाचक धर्मलुप्ता क्विग्ता और समासगता दो प्रकार की होती है।

वाचकोपमेयलुप्ता एक ही प्रकार की होती है तथा धर्मोपमान वाचकलुप्ता केवल समासगता ही होती है।

मम्मटाचार्य ने वाचकलुप्ता का उदाहरण काब्य प्रकाश में यह दिया है—

पौरं सुतीयति जन समरान्तरेऽसा—

वन्त· पुरीयति विचित्रचरित्रचुन्चु·।

नारीयते समरसीम्नि कृपाणपाणे—

रालोक्य तस्य चरितानि सपत्नसेना।।[1]

पण्डितराज के मत से यह वाचकलुप्ता का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योकि इसमे धर्म का लोप भी है। एतदर्थ वे निम्न तर्क देते हैं—

१— उपमाप्रयोजकताबच्छेदक धर्म साधारण धर्म होता है। उक्त उदाहरण मे किसी ऐसे साधारणधर्म का कथन नहीं हुआ है जो उपमा का प्रयोजक हो।

---

१ काव्यप्रकाश पृ० १४४

२— क्यच् और क्यड प्रत्ययो का वाच्य आचाररूप अर्थ साधारण धर्म नहीं हो सकता है।

३— उपमा के प्रयोजक रूप से ही साधारण धर्म का अभाव होना ही धर्मलोप कहलाता है, यदि ऐसा न माने तो ''मुखरूपमिद वस्तु प्रफुल्लमिव पकजम्'' इसमें पूर्णोपमा हो जायेगी। इस प्रकार कुल ६ प्रकार की पूर्णोपमा और १६ प्रकार की लुप्तोपमा २५ उपमा के भेद हुए।

प्रथम मत — अप्पय दीक्षित के मतानुसार मम्मट ने वाचक लुप्ता के जो ६ भेद बतलाये है उसके अतिरिक्त उसके तीन भेद और होते हैं। **पहला भेद** कर्तर्युपमाने' सूत्र से णिनि प्रत्यय होने पर उपमालकार होती है जैसे 'कोकिलालापिनी' मे कोकिल इव आलपति यहाँ णिनि प्रत्यय है।

दूसरा भेद 'इवे प्रतिकृतौ' सूत्र से कन् प्रत्यय होने पर लुम्मनुष्ये' से उसका लोप होकर होता है जैसे 'चन्चा पुरूष' सोऽय य स्वहित नैव जानीते, इसमें चन्चापद में कन् प्रत्यय का लोप है।

तीसरा भेद — आचार अर्थ मे क्विप् प्रत्यय होने पर होता है तथा किसी अन्य पद से समान धर्म का प्रतिपादन होता है जैसे— ''आह्लादि वदन तस्य शरद्राकामृगाकति' यहाँ मृगाकति मे क्विप् प्रत्यय है।

उपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की बतलाई गई है। उसका तीसरा भेद तद्धितगा भी होता है। यथा—

''यच्चोराणामस्य च समागमो यच्च तैर्वधोऽस्यकृत ।
उपनतमेतदकस्मादासीत्तत्काकतालीयम् ।।'[1]

यहाँ उपमान लुप्ता तद्धितगा उपमा है। वाचकोपमानलुप्ता का उल्लेख ही नहीं किया गया है। यद्यपि वह भी लुप्तोपमा का एक प्रकार है। धर्मोपमान लुप्ता वाक्यगा और समासगा दो प्रकार की कही गई है, वह तद्धितगा भी होती है। वाचक धर्म लुप्ता भी तद्धितगा होत है। जैसे

---

१ रसगगाधर पृ० १६६

पचम मत—— उपमा के तीन प्रकार स्ववैचित्र्यमात्रविश्रान्ता, उक्तार्थोपपादनपरा और प्रधान व्यंग्यात्मिका **पूर्व मे ही कही जा चुकी है।**

षष्ठमत— पूर्णोपमा में साधारण धर्म के भेद से जो नाना प्रकार होते है वे लुप्तोपमा मे नहीं होते हैं।[1]

पण्डितराजकृत अप्पयदीक्षित के उक्त मतो का खण्डन— प्रथम मत के सम्बन्ध मे पण्डितराज को कोई आपत्ति नहीं है।

द्वितीय मत के खण्डनमे निम्न तर्क दिए हैं— पटुपटुर्देवदन्त यहॉ वाचक शब्द का उपादान न होने के कारण इसे धर्म लुप्ता का उदाहरण नहीं कहना चाहिए। द्वित्व सादृश्य का वाचक नहीं अपितु द्योतक है। इसकी द्योतकता मे प्रमाण है—कैय्यट के अनुसार प्रकारेगुणवचनस्य सूत्र मे की गई व्याख्या।

तृतीय मत का **खण्डन** — "नृणा य सेवमानाना इत्यादि पद वाचक धर्मलुप्ता का उदाहरण नहीं है। क्योकि 'चन्चा' पद मे सादृश्य के वाचक कन् प्रत्यय का लोप होने पर भी "त चन्द्रकलाधरमभजन्' इस अश से चन्द्रकलाधरमभजन राहित्यरूप साधारण धर्म का कथन हो जाने से इसमे धर्म का लोप कहना अनुचित हैं। अप्पय ने 'स्वहिताकर्तृत्व' और पण्डितराज ने शिवभजनराहित्य' को लेकर धर्मलुप्तात्व की व्याख्या प्रस्तुत की है।

यदि यह कहा जाय कि सादृश्य साधारणधर्म का वस्तुत नियामक है। उभयबृत्तित्वज्ञान तो चाहे उसका साक्षात दोनो के साथ अन्वय न होता हो या फिर उपमेय के या उपमान के विशेषण के रूप मे उपात्त होने से उसे साधारण धर्म मान लेना चाहिए तो यही दृष्टि "चन्द्रकलाधरमजनराहित्य " के प्रति भी अपनानी चाहिए।

यदि चन्द्रकलाधरभजनराहित्य को उपमेयतावच्छेदक तथा स्वात्महिताकरण साधारणधर्म माना जाय तब "नृणा य सेवमानाना " इत्यादि पद्य मे धर्म का लोप माना जा सकता है।

---

१ रसगगाधर पृ० १८१

चतुर्थ मत का खण्डन —— वाचकोपमेय लुप्तोपमा के 'रूपयौवनलावण्य आदि उदाहरण में व्याकरण सम्मत त्रुटि है पुरत पद के दूषित होने से। यहाँ पुर शब्द का जो अर्थ विवक्षित है सम्मुख वह वास्तव मे होता ही नहीं है। इसके अतिरिक्त वैयाकरणो ने भी स्पष्ट कहा है —— पत्यापुरत परत, आत्मीय चरण दधाति पुरतो निम्नोन्नताया भुवि और पुरत सुदती समागतम माम् आदि किन्तु ये अपवाद हैं।

पचम मत का खण्डन भी पण्डितराज ने निम्नवत् किया है। उन्होने अप्पय दीक्षित के द्वारा किये गये उपमा के त्रिविध भेदो का भी खण्डन कर दिया है।

षष्ठ मत के खण्डन मे पण्डितराज ने कहा कि अप्पय दीक्षित के अनुसार उपमा के लुप्ता प्रकार मे उक्त भेद सम्भव नहीं है, ठीक नहीं है क्योकि मलयइव जगति पाण्डुर्वल्मीक इवाधिधरणि धृतराष्ट ' — यहाँ धर्म लुप्ता उपमा है परन्तु इसमे कोई धर्म अनुगामी नहीं हैं। पण्डितराज ने उपमाध्वनि को स्वीकार करते हुए इसके दो भेद माने है। १ शब्दशक्तिमूल २ अर्थशक्ति मूल। पण्डितराज ने सर्वप्रथम सर्वाधिक मान्यताप्राप्त मम्मटादि के लक्षणो को भी दृष्टिगत करके तुलनात्मक एव प्रामाणिकता की सिद्धि करते हुए उपमा का विवेचन किया है। पण्डितराज के मत से सादृश्य और साधर्म्य मे कोई भेद नहीं है। दो धर्मों की समानता को सादृश्य या साधर्म्य कहा जाता था किन्तु पण्डितराज ने उनके अध्यवसाय को सादृश्य कहकर उपमा के क्षेत्र मे नवीन योग दिया है।

भेदो के सम्बन्ध मे भी पण्डितराज ने महत्व नहीं दिया है जितना दीक्षित ने पण्डितराज ने दीक्षित के मतों को जमकर खण्डित करने की कोशिश की है किन्तु न्यायोचित ढग से नहीं। व्याकरण के बल पर दिये गये दोष सहृदयग्राही नहीं हैं अत पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन वाद नहीं अपितु जल्प व वितण्डा का रूप धारण कर लेता है।

उपमेयोपमा

अर्थचित्रोपस्कारक अलकारो में उपमेयोपमा का दूसरा स्थान है। सर्वप्रथम इसका उल्लेख भामहाचार्य ने किया। दण्डी ने इसे स्वतत्र अलकार न मानकर उपमा का ही एक भेद माना। तदनन्तर उद्भट, वामन, मम्मट, रूय्यक, शोभाकर , विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, विश्वनार्थ, दीक्षित और जगन्नाथ प्रभृति ने अपने – अपने ढग से विवेचन किया। प्राचीन आचार्यों ने उपमेयोपमा का लक्षण इस प्रकार किया है——

उपमानोपमेयत्वं द्वयो पर्यायतो यदि

उपमेयोपमा सा स्याद् विविधैषा प्रकीर्तिता।[1]

अर्थात जहाँ दो वस्तुए पर्याय से (परस्पर युगपत नहीं) उपमानोपमेय बनें वहाँ उपमेयोपमालकार होता है किन्तु इसके विपरीत जहाँ दो वस्तुए युगपत एक साथ उपमानोपमेय बनती है वहा भी उपमेयोपमा हो सकता है। जैसे ——

त्वद्वल्गुना युगपदुन्मिषितेन तावत्

सद्य परस्परतुलामधिरोहता द्वे।।

प्रस्पन्दमानपरूषेतरतारमन्त —

चक्षुस्तव प्रचलित भ्रमरश्च पद्मम् ।।[2]

इस पद्य मे रघु के नेत्र और कमल को युगपत एक ही वाक्य मे एक दूसरे का एक उपमानोपमेय बताया गया है। ऐसी स्थिति में प्राचीनों के उपमानोपमेय लक्षण की अव्याप्ति हो जाती है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० १३३

२ चित्रमीमासा पृ० १३६ रघुवश ५ सर्ग

दूसरी आपत्ति सादृश्य को लेकर है। दीक्षित के मतानुसार उपमेयोपमा मे केवल दो प्रकार के सादृश्य होने चाहिए—

१ अनुगामी जो उत्पत्ति से लेकर विनाश तक स्थायी रहे।

२ वस्तु प्रतिवस्तुभाव – जहाँ दो धर्मियो मे एक ही धर्म का शब्द भेद से दो बार उपादान हो। किन्तु इसका भी अपवाद देखने को मिलता है जैसे——

रजोभि स्यन्दनोदधूर्तर्गजैश्च धनसन्निभै ।

भुवस्तलमिव व्योम कुर्वन् व्योमेव भूतलम्।।[1]

यहाँ पृथ्वी और आकाश के धर्म भिन्न–भिन्न हैं। एक स्थान पर हाथी है दूसरे स्थान पर मेघ है इसलिए यहाँ बिम्बप्रतिबिम्ब भाव सादृश्य है और परस्परोपमा हैं। उपमेयोपमा मे तृतीय सादृश्य निषेध का होना आवश्यक है। जैसे तेरा मुख चन्द्रमा के समान है या चन्द्रमा तेरे मुख के समान है अर्थात मुख और चन्द्रमा के समान तीसरा है ही नहीं। उक्त उदाहरण 'रजोभि स्यन्दनोधूतै' मे तृतीय सदृश निषेध की प्रतीति न होने के कारण उपमेयोपमा नहीं है। किन्तु प्राचीनो का उपमेयोपमा का लक्षण यहाँ घटित हो जायेगा। अत यह लक्षण अतिव्याप्ति दोष से ग्रस्त है।

दीक्षित के अनुसार उपमेयोपमा का लक्षण निम्न है——

अन्योन्येनोपमा बोध्या व्यक्त्या बृत्यन्तरेण वा ।

एक धर्माश्रया सा स्यात्सोपमेयोपमा स्मृता ।।[2]

अर्थात जहाँ उपमान और उपमेय दोनों एक दूसरे के किसी एक ही वाच्य अथवा व्यग्य धर्म के आधार पर हो वहाँ उपमेयोपमा होगी। इसकी तीन अवस्थाये होती हैं——

---

१ चित्रमीमासा पृ० ५३ रघुवश ४–२६
२ चित्रमीमासा पृ० १४०

साधर्म्य के व्यग्य होने पर —

खमिव जल जलमिव ख

हसइव चन्द्रश्चन्द्र इव हस ।

कुमुदाकारास्तारा —

स्ताराकाराणि कुमुदानि।।

जल आकाश के समान है, आकाश जल के समान है। चन्द्रमा हस के समान है। तारागण कुमुदिनी की तरह सुशोभित है और कुमुदुनिया तारागण की तरह सुशोभित हैं। यह शरद ऋतु का वर्णन है। यहॉ साधारण कर्म निर्मलता है जो कि व्यग्यगम्य है। किन्तु उपमेयोपमा मे सादृश्य व्यग्य भी हो सकता है दीक्षित का यह मत चिन्तनीय है।

२ साधर्म्य के वाच्य होनेपर —

सुगन्धि नयनानन्दि मदिरामदपाटलम् ।

अम्भोजमिव ते वक्त्र त्वदवक्त्रमिव पकजम्।।[2]

यहॉ कमल और मुख में सुगन्ध आदि अनुगामी धर्म वाच्य है।

३ वस्तुप्रतिवस्तुभाव मे उपमेयोपमा —सच्छायाम्भोजवदना सच्छायबदनाम्बुजा ।

वाप्योऽगना इवाभान्ति यत्रवाप्य इवागना ।।[3]

यहॉ शोभा धर्म वस्तु प्रतिवस्तुभाव से प्रतिपादित हुआ है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० ४६ सुधा व्याख्या

२ चित्रमीमासा पृ० १३५

३ चित्रमीमासा पृा १३५

इस अलकार का प्रमुख उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार है। यही कारण है कि विभिन्न आलकारिकों ने उपमा से उपमेयोपमा को एक पृथक वाच्य और सौन्दर्य माना है तथा उसे एक अतिरिक्त अलकार के रूप मे मान्यता दी है। वस्तु प्रतिवस्तु भाव रूप उपमेवयोपमा के विशेष रूप से उदाहरण इस प्रकार हैं।

वक्त्र पद्ममिवैतस्या नेत्र भृगमनोहरम्

पद्म वक्त्रमिवाभाति भृगलोचनभूषितम्।।[1]

यहाँ कमल भौरें की तरह कजरारी ऑखो से युक्त मुख की तरह शोभा पा रहा है। दीक्षित जी की चित्रमीमासा मे निगमित इतनी परिष्कृत व्याख्या के बावजूद पण्डितराज को कई आपत्तियॉ हैं जो कि चिन्तनीय है –

प्रथम आपत्ति यह है कि दीक्षित के मतानुसार तो

"अह लताया सदृशीत्यखर्वं गौराणि गर्वम् न कदापि माया ।।

गवेषणेनालमिहम्परेषामेषापि तुल्या तव तावदस्ति ।।

अर्थात हे गौरागि मैं लता के समान हूँ । इस तरह का महान गर्व तुम कभी न करना क्योकि इसके लिए किसी दूसरे को ढूढने की आवश्यकता नहीं है। यह लता ही तुम्हारे समान है। अर्थात यह लता तो अनायास तुम्हारे सदृश निकल आयी। यदि इस तुलना को खोजा जाय तो पता नहीं कितनी ऐसी वस्तुए सामने उपस्थित हो जाये।

उक्त उदाहरण मे दीक्षित जी के लक्षणानुसार उपमेयोपमा का होना अनिवार्य हो जाता है । अगर यह कहें कि उपमेयोपमा मान लेन पर विवाद समाप्त हो जायेगा तो ऐसी बात भी नहीं है क्योंकि उक्त उदाहरण के उत्तरार्द्ध में केवल गर्वम् को हटा देने से भी तृतीय सदृश की निबृत्ति का प्रतिपादन नहीं होता है। यहाँ "और भी तेरे समान है ही पर उनकों खोजने से क्या फल' इस अर्थ का प्रतिपादक उत्तार्द्ध तर्कसगत होता है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० १७२

जब तक तृतीय सादृश्य निषेध की निबृत्ति नहीं होती हो तब तक उपमेयोपमा हो ही नहीं सकती है यही दीक्षित का भी मत है।

पण्डितराज का कहना है कि यदि आप 'अह लताया' इस श्लोक मे अतिव्याप्ति दोष निवारणार्थ "तृतीय सदृश्य निषेध जिसका फल हो" यह विशषण और लगा दे तो उपमेयोपमा के लक्षण के समस्त विशषण व्यर्थ हो जायेगें क्योकि वही एक विशेषण सभी कमियो की पूर्तिकर देगा।

दूसरा आक्षेप यह है कि "परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा एक बृत्ति मात्र से बोधित होनी चाहिए" यह कथन भी स्वत अयुक्तिकर हो जायेगा क्योकि "स्वमिव जलम् जलमिव खम्" इसमे आकाश और जल का सादृश्य के साथ अन्वय जो हो रहा है उसमे प्रतीति होने वाली प्रतियोगिता ससर्ग रूप है। अत वह किसी बृत्ति से प्रतिपादित नहीं होती है। आलकारिक नियमानुसार बृत्ति द्वारा ज्ञात होने वाले पदार्थों का ससर्ग वृत्ति द्वारा ही ज्ञात नहीं होता।

प्रथमत उपमेय को द्वितीय वाक्य मे उपमान एव प्रथम उपमान को द्वितीय वाक्य मे उपमेय बनाया जाता है। इसमे तृतीय सदृश की निवृत्ति होती है। क्योंकि औपम्य निर्वहन हेतु तृतीय पदार्थ की आवश्यकता पडती ही नहीं। "कमलेव मर्तिमतिरिवकमला" इस उदाहरण मे काव्य का औपम्य निर्वहन कमला और मति तक ही सीमित रहता है और इससे आगे बढ ही नहीं पाता, अत यहाँ उपमेयोपमालकार होता है।

द्वितीयत पण्डितराज ने 'अह लताया सदृशीत्यादि" उदाहरण मे परस्पर की प्रतियोगिता सहित उपमा कृशता आदि एक कर्म से सिद्ध और अभिधा रूपी एक वृत्ति से बोधित कहकर दीक्षित जी के लक्षण को जो अतिव्याप्तिदोषदुष्ट कहा है वह भी तथ्यहीन ही है क्योकि दो वस्तुओ में उपमानोपमेयभाव का यथा कथचिद् पर्यायत परिवर्तन मान भी लिया

जाय तो भी यह उपमेयोपमा का उदाहरण नहीं बन सकता है क्योकि इसका उद्देश्य उपमानान्तर तिरस्कार न होकर लता सदृश और तेरे समान मे सादृश्य रूप सवेगो के कारण मन की भावना का प्रदर्शन है। साधारण धर्म की एकरूपता मे उपमेयोपमा का दीक्षित जी का खमिवजल जलमिव खम्' उदाहरण द्रष्टव्य है। यहाँ स्पष्ट है कि सर्वत्र उपमेय और उपमान मे विमलता का धर्म एकरूप ही प्रतीत हो रहा है।

साधारण धर्म की वस्तुप्रतिवस्तुरूपता की अवस्था मे उपमेयोपमा का दीक्षित जी का सच्छायाम्भोज उदाहरण भी दर्शनीय है। पण्डित जी द्वारा उदाहृत यह सूक्ति रमणीयस्तवकयुता' भी विशेष रूप से ध्यातव्य है ।

खमिव जल जलमिव खम् इस उदाहरण मे पण्डित जी ने जो उपमेयोपमा का खण्डन किया है उस खण्डन का खण्डन नागेश भट्ट के शब्दो में दर्शनीय है -- एक बृत्ति से वोधित होने का अर्थ है अन्य किसी बृत्ति से बोधित न होना। अत इस उदाहरण मे किसी प्रकार का दोष नहीं है। कारण यह है कि ससर्गों का बोध अन्य किसी बृत्ति से नहीं होता है। पण्डितराज ने उपमेयोपमा को उपमा का ही एक अवान्तर भेद माना है पृथक अलकार नहीं। यह अन्यो से इनकी विलक्षणता है। परम्परानुसार उपमेयोपमा का लक्षण तथा प्रयोजन स्पष्टीकरण करने का श्रेय पण्डितराज की एक अद्भुत देन है। उन्होने परमतखण्डन मे अपने आग्रही स्वरूप का परिचय दिया है जो कि दीक्षित जी के प्रति जातिमत द्वेष इत्यादि के कारण स्फुट प्रतीति होता है। शास्त्र को आधार मानकर किया गया दोष दर्शन उनकी इसी दृष्टि का परिचायक है। उपमेयोपमा मे वाक्य भेद पण्डितराज को भी मान्य है किन्तु लक्षण मे समाविष्ट होने से उसकी अनिवार्यता नही है।

अनन्वयालंकार

अर्थचित्रोपस्कारक अलकारो मे अनन्वय का तीसरा स्थान है। इसमे एक ही पदार्थ की उपमा स्वय उसी से की जाती है । अनन्वय शब्द की व्युत्पत्ति है –

न विद्यते अन्वय सम्बन्धा उपमानान्तरेण यत्र सोऽनन्वय अर्थात किसी उपमेय का अपने से भिन्न किसी उपमान से साधारण धर्मत्व रूप सम्बन्ध का न रखना। निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते हैं कि अपने से ही अपनी उपमा रखना अनन्वय है। इसमे उपमेय के प्रति कवि की आस्था अत्यन्त दृढ होती है। अत उपमेय के सदृश कवि अन्य किसी पदार्थ की कल्पना ही नही कर पाता है। उपमा का जहाँ सौन्दर्य साम्य की प्रतीति में है किन्तु अनन्वय का चमत्कार अन्य उपमानों से साधर्म्य सम्बन्ध के व्यच्छेद में है।

प्राचीन आचार्यो ने अनन्वय का लक्षण इस प्रकार किया–

'एकस्यैवोपमानोपमेयत्वेऽनन्वयो मत ।' [1]

अर्थात जहाँ एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय दोनो हो वहाँ अनन्वय अलकार होता है। किन्तु यह अलकार समुच्चय में भी घटित हो जाने से अतिव्याप्ति दोष ग्रस्त हो जाता है। लक्षण मे एव पद के सन्निवेश से एक में ही उपमिति किया में वैसा वर्णन होता है, फलस्वरूप इससे उपमेयोपमा के खमिवजल जलमिव खम्" इस उदाहरण मे तथा रसनोपमा के भणितिारिवमति मतिरिव चेष्टा इस उदाहरण मे अतिव्याप्ति नहीं हो पाता है। कारण यह है कि एक ही उपमिति किया का दोनों जगह अभाव है।

उदाहरण कथन से अनन्वय के दो प्रकार हैं।'प्रतीयमान का उदाहरण जैसे –

'गगन गगनाकार, सागरम् सागरोपम, यहाँ एक ही गगन उपमानात्व और उपमेयत्व दोनो है। गम्भीरता और दारूणता रूपी धर्मों मे वाच्यता के अभाव से प्रतीपमान धर्म की ही कवि को विवक्षा है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० १४७

निर्दिष्ट धर्म के उदाहरण जैसे----

न केवल भाति नितान्तकान्तिर्नितम्बिनी सैव नितम्बिनीव।

यावद् विलासायुधलास्यवासास्ते तद्विलासाइव तद्विलासा।।[1]

यहाँ "वह नितम्बिनी अपने ही समान है और उसके हाव – भाव उसी के ही समान है। यह प्रतीति अनन्वय मे उपमानान्तर सम्बधाभाव की प्रतीति को व्यक्त करता हैं। अत यहाँ अनन्वयालकार है। यहाँ प्रकाशन रूप धर्म की शक्ति के द्वारा प्रतिपाद्यत्व से निर्दिष्ट धर्मता है।

प्राचीनो के इस अनन्वय में दोष दिखलाते हुए दीक्षित जी अपने लक्षण को और अधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से और आगे बढते हैं –

पितुर्नियोगाद्वनवासमेव निस्तीर्य राम प्रतिपन्नराज्य।

धर्मार्थ कामेषु सम प्रपेदे यथा तथैवावरजेषु वृत्तिम्।।

इसमें एक ही राम का उपमानत्व और उपमेयतव भी है, किन्तु यहाँ अनन्वय नहीं।

इसी प्रकार –

"त्यक्ष्यामि वैदेहसुता पुरस्तात् समुद्रनेमिम् पितुराज्ञयेव।।

यहाँ भी राम का ही उपमानत्व एव उपमेयत्व दोनो ही है किन्तु दोनो ही उक्त उदाहरणो में द्वितीय सदृशनिषेध के तात्पर्य का अभाव होने से अनन्वयालकार नहीं है। अब दीक्षित जी अपना अनन्वय का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं।

"स्वस्य स्वेनोपमा या स्यादनुगाम्येकधर्मिका।

अन्वर्थनामधेयोऽयमनन्वय इतीरित।।

यदि अनुगामी धर्म के आधार पर एकवस्तु की उपमा उसी वस्तु के साथ दी जाये तो वहाँ अन्वर्थक अनन्वय अलकार होता है। दीक्षित के इस लक्षण में कोई दोष नहीं है।

---

१ चित्रमीमासा पृ १७८

२ चित्रमीमासा पृ० १५०

स्व का स्व के साथ विशेषण से धर्मोऽर्थ इव पूर्णश्री इत्यादि उपमेयापमा के इस उदाहरण मे तथा 'भणितिरिव मति मतिरिव इत्यादि रसनोपमा के उदाहरण मे अतिव्याप्ति दोष का निरसन हो जाता है। अनुगामी पद उपलक्षण परक है, उसी से दूसरे धर्म का ग्रहण भी शुद्धता पूर्वक ही है न कि अन्य मिश्रित रूप मे। इसी अर्थ को ज्ञापित कराने हेतु ही लक्षण मे "एकम" पद का समावेश है। कुलयानन्द के लक्षण की तुलना मे चित्रमीमासा का लक्षण अधिक परष्कृत और शुद्ध हैं।

'अन्वर्थनामधेयोऽयमं" इस विशेषण के समावेश से लक्षण का नियमन किया गया है। अर्थात् यदि 'स्व के साथ स्व की उपमा यदि अनुगतैक धर्मवती हो तभी अनन्वय होगा अन्यथा नहीं।

भामह के लक्षण "यत्र तेनैव तस्य स्यात्" मे असादृश्य विवक्षा के द्वारा अन्य उपमान का निराकरण किया गया है। इसकी दो मुख्य विशेषताये – अन्य सदृश वस्तु या उपमान का निराकरण है।

दीक्षित जी का कहना है कि भामह के लक्षण मे "तेनेव तस्य" विशेषण इसलिए रखा गया है क्योकि "उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ" इत्यादि मे अनुपमात्व द्योतन फल साम्य कल्पना वाली अतिशयोक्ति के इस उदाहरण में अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो। यह अनन्वय अलकार व्यग्य भी होता है इसे अलकार से पृथक करने हेतु दीक्षित जी का यह उदाहरण द्रष्टव्य है –

"अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते

कालेनैषा भवेत्प्रीतिस्तवैवागमनात्पुन "।[१]

१ चित्र मीमासा पृ० १५३

"गोविन्द! आज आप मेरे घर आये तो मुझे आनन्द मिला । जब कुछ समय उपरान्त आप पुन मेरे घर आओगे तो पुन मुझे वही आनन्द मिलेगा। व्यग्यार्थ यह है कि आपके आगमन से उद्भूत आनन्द की तुलना किसी दूसरे के आगमन से उत्पन्न हुए आनन्द से नहीं हो सकती। यहाँ अन्य सदृश निषेध व्यग्य है। इसलिए ऐसे स्थलों मे अनन्वयालकार की अतिव्याप्ति रोकने के लिए अव्यग्य विशेषण को जोड़ दिया गया है। पण्डितराज जगन्नाथ यहाँ व्यग्य नहीं मानते हैं। वह श्री कृष्ण के दर्शन से उद्भूत आनन्द को अवर्णनीय बताते हैं और कहते है कि इसकी तुलना अन्यों से नहीं हो सकती है। उनके अनुसार व्यग्य अनन्वय का उदाहरण इस प्रकार है—

त्वां कृत्वोपरतो मन्ये नून धाता स विश्वकृत।
नहि रूपोपमा त्वन्या तवास्ति जगतीतले ।।[1]

"मेरा विचार है कि विधाता ने तुम्हारा निर्माण करने के पश्चात् विश्वनिर्माण का कार्य समाप्त कर दिया है। तभी तो विश्व में तेरे सदृश कोई सुन्दरी नहीं है।"
यहाँ उत्प्रेक्षा अलकार है, किन्तु भेदगर्भित सादृश्य का निषेध व्यग्य है। अत यहाँ व्यग्य अनन्वय है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० १५४

सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने अनन्वयालकार का स्वतन्त्र विवेचन किया हैं किन्तु सभी ने एकमत से उपमेय का उपमान उपमेय को ही स्वीकृत किया है। आलकारिको के बीच केवल दो ही भिन्नता है – असादृश्य विवक्षा या उपमानान्तर व्यवच्छेद अर्थात् अनन्वय की परिभाषा मे एक ही पदार्थ को उपमेय तथा उपमान मानने के अतिरिक्त असादृश्य विवक्षा का भी सन्निवेश होना चाहिए। पण्डितराज द्वारा दीक्षित का किया गया खण्डन 'अद्य या मम गोविन्द कृष्ण के आगमन से उत्पन्न प्रसन्नता रूपी उपमेय का उपमान भी प्रसन्नता ही है। चाहे वह इस आगमन से हो अथवा उस आगमन से। अन्य सदृश वस्तु के अभाव का प्रदर्शन तो स्पष्ट ही है। अत पण्डितराज का दृष्टिकोण भेद ही पार्थक्य का कारण हैं। अत दीक्षित जी के अनन्वयालकार की व्याख्या उचित ही है। पण्डितराज जी का खण्डन न्यायोचित नही है। अनन्वय की ध्वनि का उदाहरण यह है –

'पृष्टा खलु परपुष्टा परितो दृष्टाश्च विटपिन सर्वे।
भेदेन भुवि न पेदे साधर्म्यं ते रसालमधुपेन।।'[1]

यहाँ पर "भेदेन" इस उक्ति से "अभेद में सादृश्य को पाया" इस प्रकार की अनन्वयात्मक ध्वनि सिद्ध होती है। अप्पय दीक्षित के मत को अपनी हठधर्मिता से विश्लेषित करने का किया गया प्रयास सहृदयग्राही प्रतीत नहीं होता है। अनन्वय मे वस्तुत चमत्कार किसका होता है ? इस चमत्कार का आधार क्या होता है ? इन सबका गहन विश्लेषण पण्डितराज की ही देन है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० २०६

स्मरणालंकार

दीक्षित जी ने सर्वप्रथम प्राचीन आचार्यो का स्मरण लक्षण उद्धृत किया है –

स्मृति सादृश्यमूला या वस्वन्तरसमाश्रया।

स्मरणालकृति सा स्यादव्यग्त्वविशेषिता।।[1]

जिसका मूल सादृश्य हो और जो किसी भिन्न वस्तु अर्थात वह फिर सदृश हो अथवा असदृश के विषय मे हो वह स्मृति अव्यगत्व विशेषण से युक्त हो अर्थात व्यग्य न हो तो स्मरणालकार कहलाती है।

अर्थात् जब सादृश्य के आधार अन्य पदार्थ का स्मरण हो जाए और व्यग्य न होकर वाच्य हो तो वहाँ स्मरणालकार होगा उदाहरणार्थ –

अपि तुरगसमीपादुत्पतन्त मयूर

न स रूचिरकलाप वाणलक्ष्मीचकार।

सपदि गतमनस्कश्चित्रमाल्यानुकीर्णे।।

रतिविगलितबन्धे केशपाशेप्रियाया।।[2]

---

१ चित्रमीमांसा पृ० १५६

२ रसगंगाधर पृ० २१८

अथवा –

> दिव्यानामपि कृतविस्मया पुरस्तादम्भस्त ।
>
> स्फुरविन्दचारूहस्ताम् ।।
>
> उद्वीक्ष्य श्रियमिव काचिदुत्तरन्तीम्,
>
> अस्मार्षी जलनिधि मन्थनस्यशौरि ।।[1]

यहाँ दोनों मे ही सादृश्य आधारित किसी दूसरी वस्तु की स्मृति होना समानरूप से प्राप्त है। इसलिए सदृश वस्तु और सदृश वस्तु सम्बन्धिनी अन्य वस्तु दोनो का सग्रह करने के लिए ही वस्त्वन्तर पद का ग्रहण किया गया है।[2]

> "सौमित्रे ननु सेव्यता तरूतल चण्डाशुरूजृम्भते।
>
> चण्डाशोर्निशि का कथा रधुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलते।।
>
> वत्सैतद्विदित कथ नु भवता धत्ते कुरगयत ।
>
> क्वासि प्रेयसि हा कुरगनयने चन्द्रानने जानकि ।।[3]

---

१ रसगगाधर पृ० २१८

२ एकत्र सदृशदर्शनात्तत्सदृशधर्मिकास्मृति । इतरत्रसदृशदर्शनात्तत्सदृशीलक्ष्मीसम्बन्धिनी–जलनिधि –मन्थनस्य स्मृति। उभयत्रापि सादृश्यमूलकवस्त्वन्तरस्मृतित्वमविशिष्टम्। अतएव सदृशासदृश साधारण्यर्थतया लक्षणे वस्त्वतरग्रहणमर्थवत् । चित्रमीमासा पृ० ५०

३ रसगगाधर पृ० २१८

यहाँ स्मृति व्यग्य है और अलकार्य है। अत अलकार्य होने से स्मरणालकार का विषय नहीं है इस प्रकार की स्मृति के व्यावर्तन हेतु अव्यग्यत्व विशेषण दिया गया है।[1]

अत्युच्चा परित स्फुरन्ति गिरय स्फुरुस्तथाम्भोधय–
स्तानेतानपि बिभ्रती किमपि न क्लान्तासि तुभ्य नम ।।
अश्चर्येण मुहर्मुह स्तुतिमिति प्रस्तौमि यावद्भुव–
स्तावाद्बिभ्रदिया स्मृतस्तव भुजो वाचस्ततो मुद्रिता ।। रसगगाधर २१८

यहाँ स्तुति किए जाते हुए भूभृत् 'राजा' से सम्बन्धित स्मृति सादृश्य पर आधारित नहीं है अत यहाँ स्मरणालकार नहीं होगा। स्मृति रूप सचारीभाव् राजा विषयक रतिभाव का अग होने के कारण प्रेयोलकार का विषय है, अत सादृश्यमूला विशेषण दिया गया है।[2]

दीक्षित के मत से वैचित्र्य चित्रालकार का आधायक है, किन्तु कहीं–कहीं वैचित्र्यहीन स्थितियो मे भी स्मरण अलकार मानते हैं। जैसे –

पकज पश्यत कान्तामुख मे गाहते मन ।[3]

यहाँ वैचित्र्य न होने पर भी दीक्षित जी ने स्मरणालकार माना है, किन्तु यदि स्मृति व्यग्य हो तब स्मरणालकार नहीं होता है, जैसे –

"सौमित्रे ननु सेव्यतां तरूतल चण्डाशुरूज्जृम्भतें।
चण्डाशोर्निशि का कथा रघुपते चन्द्रोऽयमुन्मीलति।।
वत्सैतद्विदित कथ नु भवता धत्ते कुरगेयत ।
क्वासि प्रेयसि हा कुरगनयने चन्द्रानने जानकि ।।[4]

---

१. अत्र श्रुतकुरगसम्बन्धिनस्तन्नयनस्य स्मरणात् तत्सदृशीसीतानयनस्मृतिस्तत्सम्बन्धि सीतास्मृतिश्चेति किन्त्वेषा व्यग्या, अलकार्यभूता च। तद् व्यावृत्यर्थमव्यग्यत्वविशेषणम्।। चित्रमी० पृ० ५०

२ स्तूयमानभूसम्बन्धिनो भूभृद्भुजस्य स्मृतिर्न सादृश्यमूलेति नात्र स्मरणालकार । किन्तु स्मृते सचारीभावस्य भूभृद् विषयरतिभावागत्वात्प्रेयोऽलंकार । चित्रमी० पृ० ५०–५१

३ कुवलयानन्द पृ० २६

४ महानाटक ४–२३ चित्रमी० पृ० १५७

इस विरहातुर राम की उक्ति में चन्द्रमुखी मृगलोचना, सीता की स्मृति व्यग्य है वाच्य नहीं। अत यहाँ स्मरणालकार न होकर स्मरण ध्वनि है।

पण्डितराज के मत से स्मरणालकार यह है –

"सादृश्यज्ञानोद्बुद्धसस्कारप्रयोज्य स्मरण स्मरणल्कार ।[1]

अर्थात सादृश्य विषयक ज्ञान से जागृत सस्कार से प्रयोजित स्मरण ही स्मरणालकार होता है। यहाँ प्रयोज्य पद देने का तात्पर्य यह है कि यत्किचिद् सादृश्य बोध से उद्बुद्ध सस्कार के द्वारा प्रयोजित सादृश्य के साथ स्मर्यमाण वस्तु का सम्बन्धित होना आवश्यक नहीं है। जैसे –

एकीमवत्प्रलयकाल पयोधिकल्प–
मालोक्य संगरगतं कुरूवीरसैन्यम्।।
सस्मारतल्पमहिपुगवकायकान्त,
निद्रा च योगकलिता भगवान् मुकुन्द ।।

यहाँ समुद्र और योगनिद्रा तथा शेषशैय्या का वस्तुत कोई आपातित सम्बन्ध न होते हुए भी समुद्र सादृश्य तल्पनिद्रा के प्रयोजक होने के कारण स्मरणालकार है।

पण्डितराज ने दीक्षित के लक्षण की कटु आलोचना की है जो कि निम्नवत् है–

वस्त्वन्तर– पण्डितराज ने इसे अस्मणीय बताया। वे कहते हैं कि "सदृश और असदृश जलनिधि और केशपाश के लिए "वस्त्वन्तर' का कथन व्यर्थ है क्योंकि सादृश्यमूला स्मृति स्मरणालंकार है। इतना कहने भर से ही केशपाश की स्मृति के समान जलनिध मन्थन की स्मृति का भी ग्रहण हो जाता है। मूलत दोनो ही सादृश्याधारित ही हैं।

---

१ रसगगाधर पृ० २१६

अव्यग्य-- इसी प्रकार पण्डितराज के मत से ''सौमित्रे ननु' पद्य मे स्मृति को व्यग्य और अलकार्य कहना भी उचित नहीं है। स्मृति अलकार्य नहीं है अपितु विप्रलम्भ की उपस्कारिका होने से अलंकार है। व्यग्य होते हुए भी अप्रधान रूप से अलकार का विषय हो सकता है।[1]
''अत्युच्चापरित'' में जो स्मृतिरूप व्यामिचारीभाव राजविषयक रति का अंग है। वह प्रेयोलकार है यह भी ठीक नही है क्योकि प्रेयोलकार वहीं होता है जहाँ एक दूसरे भाव का अग होता है। यहाँ स्मृति भाव नहीं है। कारण यह कि स्मरत पद से उसका अभिधान हो गया है इसमे मम्मटाचार्य का ''व्यामिचार्यंचितो भाव प्रमाण है।[1]
अलकारसर्वस्वकार का यह कथन भी प्रमाण है कि ''जिस स्मृति का उद्भव सादृश्य के अतिरिक्त किसी कारण से होता है वही स्मृति प्रेयोलकार का विषय बनती है।'
वह स्मृति यदि शब्दत कथित हो जाये तो प्रेयोलकार का विषय नहीं होती है जैसे –

अत्रानुगोदं मृगया निवृत्तस्तरगवातेन विनीतखेद ।
रहस्त्व दुत्सगनिषण्णमूर्धा स्मरामि वानीरगृहेषु सुप्तम्।।[2]

सादृश्यमूलक होने के कारण उपमा के समान ही समानधर्म के आधार पर इस अलकार के विभिन्न भेद सम्भव प्रतीत होते हैं । उदाहरणार्थ–

१. अनुगामी धर्म का उदाहरण –

सन्त्येवास्मिन्जगति वहव पक्षिणो रम्यरूपा –
स्तेषा मध्ये मम तु महती वासना चातकेषु।
यैरध्यधैरथ निजसख नीरद स्मारयद्भि
स्मृत्यारूढ भवति किमपि ब्रहम कृष्णाभिधानम्।।[3]

---

१. काव्य प्रकाश पृ० ६४
२ रसगगाधर पृ० २२०
३ रसगगाधर पृ० २०८

यहाँ श्यामत्व रूप धर्म अनुगामी है।

२. **विम्बप्रमिबिम्बभावयुक्त साधरणधर्म का उदाहरण –**

मुजभ्रमितपदृिशोद्दलित दृप्तदन्तावल,

भवन्तमरिमण्डलकथन पश्यत सगरे।।

अमन्दकुलशाहतिस्फुटविभिन्नविन्ध्याचले,

न कस्य हृदय झगित्यधिरूरोह देवेश्वर ।। [१]

यहाँ भूधर और दन्तावल मे विम्बप्रतिबिम्ब भाव है।

३. **उपचरित धर्म होने पर –**

क्वचिदपि कार्ये मृदुल क्वापि च कठिन विलोक्य हृदय ते।

को न स्मरति नराधिप नवनीत किं च शतकोटिम्।। [२]

उक्त में मृदुत्व धर्म आरोपित हैं।

४. **केवल शब्दात्मक जैसे –**

ऋतुराज भ्रमरहित यदाहमाकर्णयामि नियमेन।

आरोहति स्मृतिपथ तदेव भगवान् मुनिव्यास ।।

---

१ रसगंगाधर पृ० २२४

२ रसगंगाधर पृ० २२४

इसमे 'भ्रमरहित' होना व्यास और बसन्त के प्रति साधारण धर्म है। इसके अतिरिक्त वाच्य, लक्षय और व्यग्य भेद भी विचारणीय है।

यही अलकार यदि प्रधानरूप से व्यंग्य होता है तो ध्वनि का विषय बन जाता है जैसे–'इद लताभि हृदय हरेयु ' यहॉं स्मरण व्यग्य है।

स्मरणालकार मे सादृश्य सदा व्यग्य रहता है। अत उस सादृश्य का शब्दश कथन होना इस अलकार का प्रमुख दोष है। जैसे–

उपकारमस्य साधोर्नैवाह विस्मरामि जलदस्य

दृष्टेन येन सहसा निवेद्यते नवघनश्याम ।।[1]

यदि यहॉं "नव घनश्याम" की जगह "निवेद्यते देवकीतनय कह दिया जाये तो दोष दूर हो जायेगा।

पण्डितराजकृत दीक्षित का प्रथम खण्डन युक्तिसगत है, क्योकि सादृश्यमूला कहने से सदृश एव असृदश दोनों का ग्रहण हो जाता है। कारण यह कि मूलत असदृश वस्तु का भी स्मरण सदृश दर्शन पर आधारित होता है।

'सैमित्रे' इत्यादि के उदाहरण मे स्मृति को अप्रधान कहकर अप्पयदीक्षित का मत दूषित करना अन्याय ही है। एवं च अव्यंग्यत्व विशेषण भी इसलिए निरर्थक कहना चाहिए क्योकि अलकार सामान्य के लक्षण में ही उसका कथन हो गया है, अनुचित है क्योकि इस पुनरूक्ति से व्यग्यत्व का विशेष रूप से निषेध होता है। उसका विधान होने से मुख्य शर्त के रूप मे वही ज्ञात होता है। अत उसमे कोई दोष नहीं हैं।

---

१ रसगगाधर पृ० २२२

तीसरी युक्ति 'अत्युच्चा परित में स्मृतिभाव नहीं है, सचारी भाव है क्योकि वह वाच्य है। यह सब केवल जातिगत विद्वेष से प्रेरित होकर कहा गया लगता है। अप्पय के कथन मे मुख्य विषय प्रेयोलकार का नही है अपितु 'भूमृत् की स्मृति सादृश्यमूलक नहीं है अत यहाँ स्मरणालकार नहीं है।

पण्डितराज ने सिहशशक न्याय के आधार पर बिना किसी युक्ति सगत आधार के दीक्षितीय मान्यता को दोषी सिद्ध किया है। विवेचन और विश्लेषण के दृष्टिकोण से महत्वहीन विषय को भी पण्डितराज ने अपने दर्पतोष हेतु विवेचित और विश्लेषित किया है। अपने अभिमान मे पण्डितराज यह भी भूल जाते हैं कि इस शास्त्रार्थ मे बल है या नहीं।

स्मरण के कुछ भेदों का उल्लेख उनकी अन्यो से भिन्नता सिद्ध करती है।

षष्ठ अध्याय
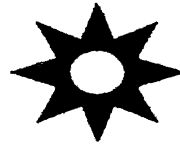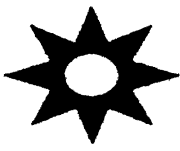
आरोपमूलक अभेद प्रधान अलकारो की समीक्षा

रूपक

अभी तक पूर्व मे जो भी अलकार निरूपित किए गये वे सादृश्याधारित भेद प्रधान थे। अब अभेद प्रधान अलकारो का निरूपण प्रारम्भ करते हुए रूपक आदि अलकारो को उस कोटि मे रखा गया है। इस कोटि के सभी अलकारो मे दो पदार्थो मे अभेद सामानरूप से विद्यमान रहता है और उसी अभेद का नाम रूपक है। वह रूपक अलकार तब बनता है जब किसी इतर का उपस्कारक होता है।

पण्डितराजकृत रसगगाधर मे इसका लक्षण यूँ वर्णित है 'उपमेयतावच्छेदकपुरस्कारणोपमेये शब्दान्निश्चीयमानमुपमा, न तादात्म्य रूपकम् ।तदेवोपस्कारकत्वविशिष्टमलकार ।'[1] अर्थात् उपमेयतावच्छेदक के पुरस्कार से उपमेय मे उपमान का शब्द द्वारा निश्चित किया गया अभेद (तादूप्य) रूपक है। उसी 'रूपक' के उपस्कारक होने पर रूपकालकार होता है। उदाहरणार्थ 'मुखचन्द्र इस उदाहरण मे मुख उपमेय है और चन्द्र उपमान। मुख का मुखत्वेन उपादान कर चन्द्र का अभेदवर्णन ही रूपक हैं। इस अभेद प्रदर्शन की प्रतीति कहीं शब्द द्वारा कहीं विशेषण – विशेष्य के प्रतिशब्दार्थ के रूप मे होती है।

---

१ रसगगाधर पृ० २२५

उपर्युक्त लक्षण का विश्लेषण करने पर अपह्नुति भ्रान्तिमान अतिशयोक्ति और निदर्शना के निरसन हेतु ही, लक्षण मे 'उपमेयतावच्छेदक पुरस्कारेण' विशेषण रखने से इसकी सार्थकता है। अर्थात इन सब में उपमेय का उपमेयरूप से कथन का निषेध होता है।

'शब्दात्' विशेषण देने का तात्पर्य यह है कि 'मुखमिद चन्द्र इसका निरसन हो जाता है क्योकि यहाँ रूपक का स्थल नहीं है अपितु कल्पनाजन्य अभेद निश्चय है तथा वह प्रत्यक्ष है।

निश्चीयमान' विशेषण के रख देने पवर सम्भावना रूप 'नून मुख चन्द्र' इस उत्प्रेक्षा के अभेद का निरसन हो जाता है। उपमान और उपमेये इत्यादि विशेषणो से सुख मनोरमा रामा" इत्यादि शुद्धारोप के विषयभूत तादात्म्य का निरसन हो जाता है।

अत शब्द के द्वारा निश्चीयमान सादृश्यमूलक जो उपमान तादात्म्य है, वह रूपक है। सादृश्यमूलक आरोप कहने मे मम्मट और दण्डी की उक्तिया भी प्रमाण हैं। मम्मट के अनुसार "तद्रूपकमभेदो या उपमानोपमेययो"[1] तथा दण्डी की अनुसार "उपमेय तिरोभूतभेदा रूपकमुच्यते"[2] कहकर रूपक का लक्षण किया गया है। मम्मट के अनुसार उपमान और उपमेय मे जो भेद होता है वह रूपक है। इसका पण्डितराज ने जबर्दस्त खण्डन किया है। ये इसे अनुचित ठहराते हुए निम्न तर्क देते हैं ।

१ उपमान और उपमेय के अभेद की प्रतीति निर्विवाद रूप से होने के कारण अपह्नुति मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है।

२ अगर यह कहे कि उपमानतावच्देदकावच्छिन्न के साथ उपमेय का अभेद होने से अपह्नुति में 'उपमेयतावाच्छेद' विशेषण का ग्रहण नहीं होता अत विशेषण सार्थक है तो भी 'नून मुख चन्द्र' इस उत्प्रेक्षा मे उस भी अतिव्याप्ति हो जाती है क्योंकि मुखत्वरूप उपमेयतावच्छेदक के सम्मुख रखकर चन्द्रत्वविशष्ट चन्द्र का भेद स्पष्ट ही है।

---

१ काव्य प्रकाश पृ० ३५७

२ रसगगाधर पृ० २२५

३ यदि यह कहे कि "प्रकृत यान्निषिध्यान्यत्साध्यते सात्वपह्नुति और 'सम्भावनममथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्यसमेन यत यहाँ अपहनुति ओर उत्प्रेक्षा के लक्षणो से विशेष कथन होने से रूपक के लक्षण द्वारा सामान्य रूप से कह गये अभेद का वारण हो जाता है । जैसे 'ब्रहमणेभ्यो दधिदेयम् इसके समान ही अपह्नुति, उत्प्रेक्षा आदि रूप विशेष विधानरूपकरूप सामान्य विधान के व्यावर्तक है अत यहाँ अतिव्याप्ति नहीं है।

शोभाकर मित्र के मत मे – जहाँ भी इस प्रकार वर्णन हो कि दो भिन्न वस्तुओ की एक ही स्थान मे स्थिति हो वहाँ रूपक होगा। ऐसा शोभाकर मित्र का कहना है। प्रचीनालकारिको का कहना है कि उपमान और उपमेय का ही अभेद रूपक होता है, कार्यकारण का नहीं, केवल दुराग्रह मात्र है।[1]

किन्तु पण्डितराज ने खण्डन करते हुए कहा कि यदि दो भिन्न वस्तुओ का एक स्थान पर होना मात्र ही रूपक माना जाय तो अपह्नुति आदि मे भी रूपक मानना पडेगा।

विद्यानाथ ने इसकी प्रस्तुति इस प्रकार की है–

आरोपविषयस्य स्यादतिरोहितरूपिण ।

उपरज्जकमारोप्यमाण तद्रूपक मतम् ।।

---

१ सादृश्यप्रयुक्त सम्बन्धान्तरप्रयुक्तो वा यावाभिन्नयो सामानाधिकरण्य निर्देश स सर्वोऽपि रूपकम्। सारोपलक्षणमूलकत्वस्य तुल्यत्वेन सादृश्यप्रयुक्तस्य तादात्म्यस्येसम्बन्धान्तरप्रयुक्तस्यापि तादात्म्यस्य सग्रहीतुमौचित्यात्। तस्मात् दुराग्रह एवाय प्राचाम् उपमानोपमेयो र भेदो रूपकम्, न तु कार्यकारणयो ।" रसगगाधर पृ० २५५

प्राचीनों के इस निर्दुष्ट लक्षण में दीक्षित जी ने निम्न दोष निकाले हैं—

कुछ लोग 'आरोप विषयस्य के दो मत लेते हैं विषय और विषयी से अभिहित उन दोनो के अभेद की प्रतिपत्ति ही आरोप है। तथा विषय अर्थात उपमेय के निगरण से विषयी के अभेद प्रतिपत्ति को अध्यवसाय मानते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य आचार्यगण ताद्रूप्य प्रतिपत्ति को आरोप मानते हैं और उसके अभेद प्रतिपत्ति को अध्ययवसाय ।

अब प्रथम मत को स्वीकार किया जाये तो आरोप विषय का इससे उत्प्रेक्षा की व्याव्रत्त स्वीकार करना पड़ेगा। और उत्प्रेक्षा की आरोपमूलत्व से वहाँ अतिव्याप्ति है ही। दूसरे मत को अगीकार करने पर "मुख चन्द्र" इत्यादि मे चन्द्र का जो 'रूपचन्द्रत्व' है उसी के द्वारा मुख की रूपवत्ता की प्रतीति से प्रसिद्ध चन्दमा से अभेद के अभाव से लक्षणा का समन्वय होगा। मुख विषय से 'चन्द्र' इत्यादि अतिशयोक्ति में उन दोनों के अभेदत्व से अतिव्याप्ति नहीं है। यहाँ वैपरीत्य भी नहीं कहा जा सकता क्योकि वैपरीत्य से तात्पर्य है रूपक मे अभेद की प्रतिपत्ति।

अतिशयोक्ति तादृप्य की प्रतिपत्ति भी कह सकते हैं। वहाँ भी उसकी कल्पना मे भी विनिगमों का अभाव वहाँ प्रसिद्ध चन्द्रादि के अभेद प्रतिपत्ति के अभाव मे भी उपात्तकल्पित जो अन्य चन्द्रादि हैं उसकी अभेद प्रतिपत्ति तो यहाँ हैं। इस शका का समाधान करते हैं — कल्पित अपर चन्द्रादि के अभेद सिद्ध रूपक मे भी यदि ऐसा कहेगे तो लक्षण का असभव दोष स्पष्ट होगा। इसलिए दोनों पक्षो मे भी आरोप विषयस्य, यह विशेषण दोष युक्त ही हैं।

अतिरोहितरूपिणः यह विशेषण भी कम है। क्योंकि संदेह और भ्रान्तिमान मे इससे यद्यपि अतिव्याप्ति दोष का निराकरण हो जाता है फिर भी अपहनुति अलकार में इस विशेषण से अतिव्याप्ति दोष का निरसन सभव ही नहीं है।

अप्पयदीक्षितकृत लक्षण—

विम्बाविशिष्टे निर्दिष्टे विषये यद्यनिह्नुते।
उपरञ्जकतामेति विषयी रूपक तदा ।।[1]

अर्थात विम्बप्रतिबिम्ब भाव से रहित शब्दत उपात्त् अनिहनुत विषय मे जब विषयी का कल्पित अभेद हो तो रूपक होता है। इसका विश्लेषण निम्नवत् है —

१. विम्बाविशिष्टे — इस विशेषण से यहाँ —

त्वत्पादनखरत्नाना यदलक्तकमार्जनम।
इद श्रीखण्डलेपेन पाण्डुरीकरण विधो ।।[2]

इत्यादि निदर्शना के उदाहरण मे अतिव्याप्ति चन्द्र और नख मे बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव होने से नही है।

२. निर्दष्टे विशेषण से अतिशयोक्ति में अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योकि अतिशयोक्ति में विषय का विषयी के साथ निगरण होता है। इस विशेषण से व्यग्यरूपक में भी अति प्रसग वारित हो जाता है क्योंकि व्यग्य होन पर भी वहाँ विषय का निर्देश रहता ही है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० २१२

२ विम्बाविशिष्ट इति विशेषणात् "त्वत्पादनखरत्नानाम्" इति निदर्शनायाम् अतिव्याप्ति

३. अनिह्नुते – अपहनुति मे रूपक का लक्षण सगत नहीं होता है। अनिहनुते का तात्पर्य है कि जिसका निषेध न किया जाये। निषेध और अपह्नुति मे विषय का निर्देश रहता है परन्तु वह निषिद्ध रहता है।

४ उपरजकतामेति – अर्थात 'कल्पित अभेद्य की निश्चयता को प्राप्त करता है।"

यह कहने से ससन्देह, उत्प्रेक्षा समासोक्ति परिणाम भ्रान्तिमान आदि मे अतिव्याप्ति का वारण हो जाता है। यही रूपक जब अव्यग्य होता है तो अलकार होता है।[1]

पण्डितराज ने इसका सयुक्तिक खण्डन किया है– 'विम्बाविशिष्टे विशेषण देने से त्वत्पादनखरत्नाना इत्यादि निदर्शना के उदाहरणो में अतिव्याप्ति नहीं होती। पण्डितराज के मतानुसार यह कहना ही व्यर्थ है क्योकि इस उदाहरण मे रूपक है, न कि निदर्शना। यहॉ पण्डितराज ने श्रौतारोप रूपक स्वीकार किया है। इस पर विशद विवाद रसगगाधर मे द्रष्टव्य है।[2] अप्रसागिक होने के कारण यहॉ दिया जाना उचित नही है।

गलितार्थ यह है कि जहॉ दीक्षित जी ने इस उदाहरण मे निदर्शना माना वहीं पण्डितराज ने इसमे रूपक अलकार स्वीकार किया है। अत उसके वारणार्थ इस विशेषण की कोई आवश्कता ही नही है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० ५६, ५७
२ रसगगाधर पृ० २२६, २२७

निर्दिष्टे प्रयोग से दो दोष होते हैं – १ अतिशयोक्ति मे अभिव्याप्ति २ अनिहुत और आहार्य विशेषणोकी व्यर्थता। अत यह विशेषण भी व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त निश्चय के लिए दिया गया आहार्य विशेषण की भी कोई उपयोगिता नहीं रह जायेगी।

अपने लक्षण की पुष्टि के पश्चात् दीक्षित जी ने जो यह बात कही है कि अव्यग्य' विशेषण देने से वही रूपक अलकार का लक्षण हो जायेगा–वह भी अनुचित है।

क्योकि व्यग्य होने से अलकार होने मे कोई बाधा नहीं होती है। शर्त सिर्फ इतनी है कि वह व्यग्य अलकार प्रधान न हो। प्रधान होने पर वह उपस्कार न होकर उपस्कार्य हो जायेगा।

<u>रूपक के भेद</u> रूपक आठ प्रकार का होता है। प्रथमत वह तीन प्रकार का होता है

१ सावयव

२ निरवयव

३ परम्परित

सावयव रूपक पुन २ प्रकार का होता है १ समस्त वस्तु विषय २ एकदेश विवर्ति रूपक।

निरवयव रूपक के दो भेद होते हैं – १ केवल निरवयव २ मालारूप निरवयव रूपक।

परम्परित रूपक के पहले दो भेद होते हैं १ श्लिष्ट २ शुद्ध। पुन श्लिष्ट रूपक के दो भेद होते हैं। १ केवल २ माला। इसी प्रकार शुद्ध परम्परित रूपक के दो भेद होते हैं १ केवल २ माला। इसे इस तालिका से भी समझा जा सकता है।[1]

---

१ रसगगाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन पृ० १८२

अब इनका एक–एक करके विस्तृत विवेचन अपेक्षित है जो कि अग्रलिखित है

सावयव रूपक : – " परस्पर सापेक्ष निष्पत्तिकाना रूपकाणा संघात सावयवम् अर्थात परस्प सापेक्ष रूप से निष्पन्न होने वाले रूपको का समूह 'सावयव रूपक होता है।[1]

क समस वस्तु विषयक – 'समस्तानि वस्तुन्यारोपमाणानि शब्दोपात्तानि य तत्समस्तवस्तुविषयम्" अर्थात जहाँ सभी आरोप्यमाण वस्तुए उपमान शब्द से कथित हो वह समस्त वस्तु विषय वाला भेद रूपक होता है।[2] उदाहरण यथा –

सुविमल मौक्तिकतारे धवलाशुक चन्द्रिका चमत्कारे
वदनपरिपूर्णचन्द्रे सुन्दरि राकासि नात्र सन्देह ।।[3]

इस पद्य में मुक्तावली, तारावली, धवल वस्त्र और चन्द्रिका मुख और पूर्णचन्द्र इन सभी रूपक है तथा परस्पर सापेक्ष है। समस्त रूपको मे उपमान का ग्रहण शब्दत किया गया है । अत यह समस्त वस्तु विषयक है ।

ख – एकदेशविवर्ति सावयव रूपक – " एकदेशविवर्ति यत्र क्वचिदवयवेशब्दोपात्तमारोप्यमाणक्वाच्चिार्थसामर्थ्याक्षिप्त तदेकदेशे शब्दानुपात्तविषयिव "अवयवरूपके विवर्तनात्स्वस्वरूपगोपनेनान्यथात्वेनवर्तनादेकदेशविवर्ति '[4]

---

१ रसगगाधर पृ० २३१

२ रसगगाधर पृ० २३१

३ रसगगाधर पृ० २३१

४ रसगगाधर पृ० २३१

अर्थात् जहाँ कुछ आरोग्य माण अवयव "अग" शब्दो से उपस्थिति हो और कुछ अर्थ सामर्थ्य से आक्षिप्त किये जाये तो वहाँ उस अवयवभूत एक देश मे जिसमे विषय शब्द से उपात्त रहता है। विवर्तन के कारण (विरूद्ध रूप से रहने के कारण) अर्थात् स्वरूप गोपन करके अन्यथात्वेन वर्तमान रहे वहाँ एकदेश विवर्ति रूपक अलकार होता है।

उदाहरण यथा –

भवग्रीष्मप्रौढातपनिवहसन्तप्तवपुषो
बलादुन्मूल्यादाग निगडमविवेकव्यतिकरम्
बिरूद्धेऽस्मिन्नात्मा भृतसरसिनैराश्यशिशिरे,
विगाहन्ते दूरीकृतकलुषजाला सुकृतिन ।।[1]

इसमे निगडादि वर्णित रूपको से सुकृतियों मे गज का अभेद भी आक्षिप्त हो जाता है अत एकदेशविवर्ति है।

निरवयव रूपक.– "बुद्धिर्दीपकला लोके यथा सर्वं प्रकाशते।
अबुद्धिस्तामसी रात्रिर्यया किञ्चिन्न भासते।।[2]

यहाँ दो रूपकों को एक साथ अनाकाक्षिप्त होने पर भी निरवयव रूपक है। यहाँ बुद्धि का दीपक के साथ एकरूपक तथा बुद्धि का रात्रि के साथ दो रूपक स्वतत्र हैं। एक के बिना दूसरे की असिद्धि नहीं है । अत निरेपक्ष होने से निरवयव है और मालात्मकता के अभाव मे केवल निरवयव है।

---

१ रस गगाधर पृ० २३२

२ रस गगाधर पृ० २३३

मालानिरवयव :– धर्मस्यात्मा भागधेय क्षमाया सार सृष्टेजीवित शारदाया,

आज्ञा साक्षात् ब्रह्मणो वेदमूर्तेराकल्पान्त राजतामेष राजा।।[1]

उक्त उदाहरण में एक ही विषय पर नानाविध पदार्थों का आरोप होने से यह माला रूप है तथा परस्पर आकाक्षा न होने से निरवयव है।

परम्परित रूपक – यत्र आरोपएवारोपान्तरस्य निमित्त तत्परपरितम् तत्रापिसमर्थकत्वेनविवक्षितस्यारोपस्यश्लेषमूलकत्वेश्लिष्टपरपरितम्।[2]

अर्थात् जहा एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण हो वहाँ पर परम्परित रूपक होता है। उसमें भी समर्थक रूप से अभिप्रेत आरोप श्लेष मूलक होता है तब वह श्लिष्ट परम्परित कहलाता है।

केवलश्लिष्ट परम्परित.– "अहितापकरणभेषजनरनाथ मेदिनीं चरत।"[3]

यहाँ "अहितापकरण" मे सभग श्लेष है।

मालारूप श्लिष्ट परम्परित .– जैसे – "कमलावासकासार मानवान्।"[4]

इसमें कमला का वास है, कमलों का आवास है, तत्कृत का सार इस प्रकार सर्वथा परम्परित है।

---

१ रस गगाधर पृ० २३३

२ रस गगाधर पृ० २३३

३. रस गगाधर पृ० २३३

४ रस गगाधर पृ० २३३

शुद्ध परम्परित का केवल रूप :–

देवा के पूर्वदेवा समिति मम नर सन्तिके वा पुरस्ताद् ।

x x x

x x x

मुग्धारिप्राणदुग्धाशनमसृणरुचिस्त्वत्कृपाणोभुज· ।।[1]

यहाँ भुजग का आरोप दुग्धारोप के प्रति सामर्थ्य रूप से कार्य का अभिप्रेत है।

शुद्ध परम्परित माला रूपक –

प्राचीसन्ध्यासमुद्यन्महिमदिनमणेमनि शेणिमश्री ।।[2]

यहाँ श्लेषाभाव के कारण यह शुद्ध है तथा प्रतापादि मे सूर्य के आरोप के कारण अरूणता की शोभा में सन्ध्या आदि अनेक पदार्थो का आरोप हुआ है। अत माला रूप है।

सावयव और परम्परित रूपक मे भेद·–

जहाँ सावयव रूपक मे एक आरोप दूसरे आरोप का उपाश्रय होता है वही परम्परित में एक आरोप ही दूसरे आरोप का कारण होता है। इसी सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का कहना है कि सावयव में जहाँ दो से अधिक आरोपों का समूह होता है वहीं परम्परित रूपक मे मात्र दो ही आरोप होते हैं। पण्डितराज ने इस पर कोई टिप्पणी नहीं की है। अभी तक जो भी भेद गिनाये गये वे सभी पदार्थ रूपक के भेद हैं अर्थात उन सबमे एक पदार्थ मे दूसरे का आरोप है। अन्य आधार पर भी इसके भेद इस प्रकार हैं।

---

१ रस गगाधर पृ० २३४

२ रस गगाधर पृ० २३४

वाक्यार्थ रूपक :—

जिसमे सम्पूर्ण वाक्यार्थ ही उपमेय हो और उस पर किसी अन्य वाक्यार्थ का आरोप किया जाये तो वहाँ वाक्यार्थ रूपक होता है। यथा —

आत्मनोऽस्य तपोदानैर्निर्मलीकरण हि यत्।

क्षालन भास्करस्येद सरसै सलिलोत्करै ।।[1]

यहाँ निर्मलीकरण मे क्षालन का आरोप रूप प्रधान रूपक जिस प्रकार वाच्य है उसी प्रकार बिम्बभूत आत्मा, तप, दान आदि मे प्रतिबिम्बभूत भास्कर सलिलोत्करादि का आरोपरूप अगभूत रूपक व्यग्य है।

साधारण धर्म के आधार पर रूपक के भेद:—

रूपक का साधारण धर्म भी उपमा के ही समान कही अनुगामी कहीं विम्बप्रतिविम्बभाव युक्त कही उपचरित और कहीं केवल शब्द रूप होता हैं। कही शब्दत कथित रहते हैं और कही अकथित होने से प्रतीयमान होते हैं।

अनुगामी धर्म शब्दत उपात्त जैसे -

जडानन्धान्पगून् प्रकृतिबधिरानुक्तिविकला —

न्ग्रहग्रहस्तानस्ताखिलदुरितनिस्तारसरणीन्।

निलिम्पैर्निर्मुक्तानपि च निरयान्तनिर्पततो,

नरानम्ब त्रातु त्वमिहपरम भेषजमसि ।।[2]

---

१ रस गगाधर पृ० २३८

२ रस गगाधर पृ० २४३

यहाँ "आतुम्" तुमुन्नन्त पद से उपात्त जडान्धादि का भावरूप साधारण धर्म भेषज और भागीरथी में अनुगामी है।

अनुगामी के अयुक्त रहने पर –

समृद्ध सौभाग्य सकलवसुधाया किमपित-- ,
न्महैश्वर्यं लीलाजनितजगत खण्डपरशो ।
श्रुतीना सर्वस्व सुकृतमथ मूर्तं सुमनसा ।
सुधासाम्राज्य ते सलिलमशिव न शमयतु।।[1]

इसमे सौभाग्य और भागीरथी मे स्वभाव से ही व्यापक दुर्भाग्यत्व और परमोत्कर्षाधायकत्व आदि अनुपात्त हैं। अत इसके कारण प्रतीयमान धर्म है।

उपचरित होने पर जैसे –

अविरत परकार्यकृता सता मधुरिमातिशयेन वचोऽमृतम्।
अपि च मानसमम्बु निधिर्यशो विमलशारदचन्दिरचन्द्रिका।।[2]
यहा अम्बु निधि आदि में गाम्भीर्य आदि का शब्दत कथन नही है।

केवल शब्दात्मकः–

अकितान्यक्षसघातै सरोगाणि सदैव हि।
शरीरिणा शरीराणि कमलानि न सशय।।[3]

हेतुरूपकः –

साधारण धर्म के युक्ति रूप से कथित होने पर हेतु रूपक होता है जैसे –

पचशाख प्रभोयस्ते शाखा सुरतरोरसौ।
अन्यथानेन पूर्यन्ते कथ सर्के मनोरथा।।[4]

रूपकध्वनि :–

उक्त अभेद के प्रधान रूप से व्यग्य होने पर रूपक ध्वनि रूप होता है जैसे–

शब्दशक्तिमूल ध्वनि यथा –

अविरल विकलद्वेदानोदकधारासारसिक्ता धरणितल ।
धनदा ग्रामहितमूर्तिर्देवत्व सार्वभौमोऽसि।।[5]

यहॉ विशेष्य और विशेषण दोनो मे ध्वनि है।

---

१ रस गगाधर पृ० २४३
२ रस गगाधर पृ० २४४
३ रस गगाधर पृ० २४४
४ रस गगाधर पृ० २४४
५ रस गगाधर पृ० २४६

अर्थशक्तिमूल :–

तिमिर हरन्ति हरिता पुर स्थित. ।
तिरयन्ति तापमय तापशालिनाम्।
वदनात्विषस्तव चकोरलोचने.।
परिमुद्रयन्ति सरसीरूहश्रिय.।।[1]

इस पद्य मे रूपक कुमुदाविकास आदि से ध्वनित होता है।

रूपकगतदोष –

यहाँ भी कवि सम्मति के विरूद्ध चमत्कारापकर्षक लिग भेद आदि दोष होते हैं।

बुद्धिरब्धिर्महीपाल यशस्ते सुरनिम्नगा।
कृतयस्तु शरत्काल चारूचन्दिरचन्द्रिका ।।[2]

यहाँ विषय और विषयी मे लिगादि का वैलक्षण्य उनके अभेद बोध के प्रतिकूल हैं। कहीं यह दोष नहीं भी होता है जैसे –

सन्तापशान्तिकारित्वाद्वदन तव चन्द्रमा ।

समीक्षोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुचते हैं कि उपमा के अनन्तर सर्वोत्कृष्ट समन्दृत अलंकार यदि है कोई तो वह है रूपक। रूपक का अर्थ अभेद मानने मे किसी को कोई भी दुराव नहीं हैं। हाँ वह अभेद किस–किस मे हो तथा किस प्रकार का हो इसे लेकर विद्वानों मे सूक्ष्म मतभेद भले ही हो।

रूपक के स्वरूप और भेद को लेकर पण्डितराज ने किसी न्यूनता को जन्म नही दिया किन्तु जिस सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक अश को विश्लेषित करते हुए निष्कृष्ट सिद्धान्त मूलतत्व को पुरस्कृत करते हुए निर्मल रूप मे प्रस्फुटित किया वही इनकी प्रतिष्ठा का कारण बना। एक तरफ रूपक को सादृश्य मूलक प्रमाण मानने मे जहाँ मम्मट को प्रमाण माना वहीं तुरन्त उनके लक्षण का खण्डन करके आलोचक भी हो गये।

जहाँ तक दीक्षित के खण्डन की बात है वह पण्डितराज ने यत्र तत्र सर्वत्र

---

१ रस गगाधर पृ० २४६

२ रस गगाधर पृ० २४६

दीक्षित जी का खण्डन, खण्डन – बुद्धि से ही किया है। दीक्षित जी के विशेषणो का खण्डन करते समय बिम्बाविशिष्टे विशेषण का खण्डन मुख्य रूप से न करके एक विशेष उदाहरण में निदर्शना है कि नहीं इस पर तर्क करने लगे। अत मे इस पद्य मे कुछ परिवर्तन करके निदर्शनानुकूल बनाकर बात को समाप्त किया। पण्डितराज एक बार नहीं अनेको बार इस दोष से ग्रस्त दिखलाई पड़ते हैं। यही कारण है कि रसगगाधार की गुरुमर्मप्रकाश टीका मे नागेश भट्ट जी ने पण्डितराज के मत को दोषी बताकर दीक्षित जी के मत का ही समर्थन किया।[1] अत दीक्षित जी का ही मत रमणीय है। उसका पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन बुद्धि विलास मात्र है और कुछ नही।

---

१ आहार्यत्व विशेषणस्य निर्दिष्टे इति विशेषणलब्धार्थ कथन तात्पर्यकत्वात्। अतिशयोक्तौ लक्षणमाहात्म्याज्जायमानज्ञानस्यानाहर्यस्यैव जायमानत्वेन तावतैव वारणात् शक्यतावच्छेदकलक्ष्यतावच्छेदकयोर्यनिर्मित त्वल्लिखितमतान्तरेऽपि युगपदेवोभयोर्भानेन वाअस्यवानुपस्थितत्वान्न तद्बुद्धेराहार्यत्वम्। किंच चन्द्रवृत्ति गुणत्वस्य लक्ष्यतावच्छेदक चन्द्रत्वस्य च मिथो विरोधाभावेन न वाधप्रतिसन्धानम्। मुखत्वेन मुख लक्ष्यत इति त्वश्रद्धेयमेव। रूपके तु वाधस्य स्फुटमुपस्थितत्वेन साक्षात् व्यञ्जनयावा जायमाना ताद्रूप्यप्रतिपत्तिरार्थेवेति दीक्षिताशय इति दिक्। रस० (गुरू मर्म०) पृ० २२८

अथवा प्रकृत विषय उपमेय के रूप मे आरोप्यमाण का उपयोग? यदि प्रथम तात्पर्य को माने तो अलकार सर्वस्व मे दिए गये रूपक के उदाहरण मे परिणाम अलकार का लक्षण चला जाता है। जैसे -

दासे कृतागसि भवत्युचित प्रभूणा,
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये।।
उद्यत्कठोरपुलकाङकुरकण्टग्रै -
र्यत्खिद्यते तवपद ननु सा व्यथा मे ।।[1]

यहाँ लक्षण की अतिव्याप्ति हो रही है । यदि द्वितीय अर्थ को स्वीकार करे तो इस उदाहरण में–

"अथ पक्तिमतामुपेयिवद्भि तत्परतरस्तुरगमाद्यै ।।[2]

यहाँ इस व्यधिकरण परिणाम के उदाहरण में लक्षण की असगति हो जायेगी । अप्पय दीक्षित ने चित्रमीमासा मे विद्याधर के दिये गये उदाहरण को दोष सिद्ध किया और वहीं पण्डितराज ने उसे न्यायोचित ठहराया। विद्याधर का श्लोक निम्नवत् है।

नरसिह ! धरानाथ के वय तव वर्णने।
अपिराजानमाकम्य यशो यस्य विजृम्भते।।

यहाँ विद्याधर ने 'राज' पद से चन्द्ररूप विषय की उपस्थिति को स्वीकार किया है तथा आरोप्यमाण विषयी का आकमण रूप कार्य में उपयोग होता है। अत इस प्रतीति के कारण परिणाम अलकार यहाँ व्यग्य होता है, किन्तु दीक्षित के मतानुसार यहाँ आरोप्यमाण नृप का नृपत्वेन ही आकमण के प्रति उपयोग है, चन्द्रत्वेन नहीं।[3]

१– अलङ्.कार सर्वस्व पृष्ठ – ६४

२– चित्रमीमासा पृष्ठ – ६८

३– रसगङ्.गाधर पृष्ठ – २४८

इस का खण्डन करते हुए पण्डितराज ने कहा कि विषयी के रूप में व्यग्यमान नृप का भी चन्द्रात्मना ही उपयोग होता है अर्थात विषय रूप में ही विषयी का उपयोग होता है अत विद्याधर के उक्त उदाहरण मे कोई दोष नहीं है ।

पण्डितराज के मतानुसार परिणामालकार का निम्नलक्षण है -

"विषयी यत्र विषयात्मतयैव प्रकृतोपयोगी न स्वातन्त्र्येण, स परिणाम[1] अर्थात् जहाँ विषयी विषयतया ही प्रकृत का उपयोगी होता है। वहीं परिणाम होता है । परिणाम अलकार मे विषयी मे विषय का अभेद होता है जबकि रूपक मे विषम मे विषयी का अभेद होता है। अत दोनो परस्पर पृथक – पृथक हैं, एक नही हैं। उदाहरणार्थ –

अपारे ससारे विषमविषयारण्यसरणौ,
मम् भ्रम भ्राम विगलितविराम जडमते ।।
परिश्रान्तस्याय तरणितनयातीर निलय.
समन्तात्सन्ताप हरिभवतुमालस्तिरयतु ।।[2]

इस उदाहरण मे तमाल है विषयी और भगवान् है विषय। तमाल की उपयोगिता उसको हरि के रूप में ग्रहण करने पर ही हो सकती है, अत विषयी का विषय में अभेद है। अन्य आलकारिको के मतानुसार परिणाम अलकार दो प्रकार का होना है–

१– **आरोप्यमाण परिणाम**

२– **विषय परिणाम**

आरोप्यमाण परिणाम वहाँ होता है जहाँ विषय की उपयोगिता विषय के रूप मे न होकर आरोप्यमाण से अभिन्न रहती है वहाँ आरोप्यमाण परिणाम होता है जैसे–

१– रसगङ्गाधर पृष्ठ – ३३२–३३३ (रूय्यक का सम्पूर्ण मत)

२– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २५२

"वदनेनेन्दुना तन्वी शिशिरीकुरुते दृशौ" यहाँ है।

जहाँ आरोप्यमाण स्वतन्त्र रूप से प्रकृत कार्य के प्रति उपयोगी न हो बल्कि विषय से अभिन्न होकर ही उसका उपयोगी हो वहाँ विषय परिणाम होता है। जैसे – वदनेनेन्दुना तन्वी स्मरताप विलुम्पति किन्तु यह रूपक म दो प्रकार का है। इसीलिए तो मम्मट ने <u>उपमान और उपमेय का अभेद ही रूपक</u> **है** यह कहा है। अत परिणाम अलकार रूपक अलकार से पृथक् कोई अलकार नही है।[1]

यहाँ नागेश की टीका के अनुसार 'केचिद्वदन्ति' से यह विदित होता है कि पण्डितराज की इस मत के साथ सहमति नहीं है। रूपक में परिणाम का अन्तर्भाव उचित नहीं है।

"केचिद्वदन्तीत्याभ्यामरुचि सूचिता। चमत्कृतिनिदानत्वेन अलकारभेद इति सिद्धान्तनादन्यत्रे वात्रापि भेद एवोचित इति।" रस गगाधर – पृ० २५२

परिणाम अलकार सामानाधिकरण्य मे और व्यधिकरण के भेद से दो प्रकार का होता है। सामानाधिकरण्य पुन वाक्यगत और समासगत भेद से दो प्रकार का होता है। उपमा और उपमेय में समान विभक्ति का प्रयोग होने पर सामानधिकरण्य और भिन्न विभक्तियो का प्रयोग होने पर व्यधिकरण्य समास होता है। पूर्वोक्त उदाहरण "अपारे ससारें" हरिनवतमाल यह पद उपमानोपमेय का समासगत रूप है और विग्रह करने पर दोनो में समान विभक्ति है अत सामानाधिकरण्य है।

<u>समासगत सामानाधिकरण्य का उदाहरण जैसे–</u>

महर्षेर्व्यासपुत्रस्य श्रावश्रावं वच सुधाम्।
उप"अभि" मन्युसुतो राजा परा मुदमाप्तवान्।।[2]

---

१ रसगगाधर पृ० २५२

२ रस गगाधर पृ० २४६

व्यधिकरण परिणाम का उदाहरण –

अहीनचन्द्रा लसतानेन ज्योत्स्नावती चापि शुचिस्मितेन।

एषा हि योषा सितपक्षदोषा तोषाय केषाम् न महीतलेऽस्यात्।।

इसमें युवती पर शुक्ल पक्ष की रजनी का आरोप किया गया है। तद्रूपेण वह प्रकृत विषय विरही जनों के सतोष के लिए होना चाहिए। अत यह बाधित है अत उसका योषा रूप ही इसके लिए उपयोगी है अत परिणाम अलकार है।

अप्पय दीक्षित ने सामानाधिकरण्य और व्यधिकरण्य अलकार बतलाकर व्यधिकरण्य का निम्न उदाहरण दिया है –

तारारूपकशेखराय जगदाधाराय धारोधर ।

च्छायाधारक कन्धराय गिरिजासगैकश्रृगारिणे।

नद्या शेखरिणें दृशा तिलकिनें नारायणेंमास्त्रिणे।

नागै ककणिने नगेन गृहिणे नाथाय सेय मति ।।[1]

इसमें नदी और नयन रूप विषयो में जो विभक्ति है वह शेखर और तिलकी रूप विषयिणो मे नहीं है अत वैयधिकरण्य है ।

पण्डितराज के मत से यहाँ परिणामालकार मानना उचित नही है क्योकि विषय से अभिन्न होकर विषयी का भान यद्यपि यहाँ होता हैं परन्तु वह उस रूप मे उपयोगी नहीं है। अत पूर्ण लक्षण का समन्वय न होने से यहाँ परिणाम नहीं है।

इसी तरह दूसरे उदाहरण में –

द्विर्भाव पुष्पकेतोर्विबुधविटपिना पौनरुक्त्य विकल्प –

x x x

न्नानद कोविदाना जगति विजयते श्रीनृसिह क्षितीन्द्र ।[2]

---

१ चित्रमीमासा पृ० ६७

२ चित्रमीमासा पृ० ६७

इसमे राजा रूप विषय का व पुष्प केतु आदि विषयिणो का विभक्ति भेद है अत वैयधिकरण्य है। इसमें भी पण्डितराज ने परिणाम नहीं माना है। यहाँ विषयो का विषय से अभिन्न रूप मे बोध होन पर भी तद्रूपेण उपयोग नही है।

परिणाम अलकार की ध्वनि .–

परिणाम प्रमुख रूप से व्यग्य होता है वह परिणाम ध्वनि का विषय होता है वह परिणाम ध्वनि शब्द बल से होने पर शब्द शक्ति मूला तथा अर्थ बल से होने पर अर्थशक्ति मूला होती है। शब्द शक्ति मूला यथा --

पान्थ मन्दमते किं वा सन्तापमनुविन्दसि।
पयोधर समाशास्व येन शान्तिमवाप्नुया ।।[1]

अर्थशक्तिमूला यथा –

इन्दुना परसौन्दर्य सिन्धुना बन्धुना बिना ।
ममाय विषमस्ताप केन वा शमयिष्यते ।।[2]

अप्पय दीक्षित ने अपने मतानुसार परिणाम ध्वनि का निम्न उदाहरण दिया है –

"चिराद्विषहसे ताप चित्त चिन्ता परित्यज ।
"नन्वसि शीतल शौरे पादाब्जनखचन्द्रमा ।।[3]

'अत्र चिरतापार्तं प्रति हरिपादाब्जनखचन्द्रराद्भावप्रदर्शनेन तमेव तन्निषेवणादय ताप शान्तिमेष्यतीति परिणामों व्यज्यते ।।" चित्र मीमासा पृ० ६६

"पण्डितराज ने इसका खण्डन करते हुए कहा कि "उसके सेवन से यह तेरा ताप शान्त हो जायेगा" यह प्रकृत के प्रति उपयोगिता व्यग्य होती है तथापि उसके अवच्छेदक विषयी में विषय अभेद का कथन शब्दत हुआ हैं। अर्थात वह वाच्य है अथवा वाच्य से

---

१ रस गगाधर पृ० २५६

२ रस गंगाधर पृ० २५५

३ चित्र मीमांसा पृ० ६६

सम्बन्धित हैं। इस दशा मे उसे ध्वनि का स्थल मानना बिल्कुल ही अनुचित है।

परिणामालकार में भी रूपक के समान दोषों को लिग वचन आदि के भेद से समझ लेना चाहिए। यदि वह भेद कवि समय प्रसिद्ध हो तो दोष नहीं होता।

समीक्षा –

रूय्यक दीक्षित आदि के द्वारा मान्य किन्तु मम्मट के द्वारा अनिरूपित परिणामालकार का पण्डितराज ने विशद विवेचन प्रस्तुत किया। अत इनकी स्वतत्र सत्ता पण्डितराज एव दीक्षित को मान्य हैं। नागेश भट्ट द्वारा भी इसे स्वतत्र अलकार माना गया है। पण्डितराज ने इसका विशद वर्णन प्रस्तुत किया वहीं अन्यो ने सक्षेप मे प्रस्तुतीकरण किया जिससे इसकी सार्थकता दोष रूप मे सामने उद्भूत हुई। रसगगाधरकार का प्रतिपादन वैयाकरण और नैयायिक मतानुसार है, अत दीक्षित का ही मत रमणीय है।

ससन्देहालंकार

अर्थ चित्रोपस्कारक अलकारो मे ससन्देह का महत्वपूर्ण स्थान हैं। अलकार शास्त्र म इसके अनेक नाम हैं। कुछ काव्य शास्त्री इसे सन्देह मानते हैं तो कुछ इसे अलकार की कोटि में ही नहीं रखते हैं किन्तु यह अलकार सादृश्य मूलक ही हैं। उपमान और उपमेय दोनो का सन्देह ही ससन्देहालकार का बीज है। जबकि एक वस्तु मे अपनी प्रतिभा से अनेक पदार्थो का सशय या एक उपमेय में अनेकों उपमान का सशय स्थापित होता है तो वहॉ सन्देहालकार का विषय होता है।

उत्प्रेक्षालकार में जहॉ उपमानोपमेय में सशय की प्रतीति आधिक्य होती है वही ससन्देह मे दोनो की प्रतीति समान कोटिक होती है यही इन दोनो का भेद है।

सर्वप्रथम दीक्षित ने प्राचीनो का ससन्देह लक्षण उद्धृत किया है।

साम्यादप्रकृतार्थस्य या धीरनवधारणा।

प्रकृतार्थाश्रया तज्ज्ञै, ससन्देह सा इष्यते।।[1]

जहॉ सादृश्य के आधार पर प्रकृत पदार्थ मे अप्रकृत भी अनिश्चित बुद्धि उत्पन्न होती हैं, किन्तु दीक्षित जी को यह लक्षण मान्य नहीं हैं। साम्यात् इस पद मे यदि फलत्वेन् हम हेतु पचमी मानते हैं तो ससन्देह के उन लक्षणो में जहॉ ऐसी विवक्षा नहीं है यह लक्षण घटित नहीं हो सकेगा। यदि हम स्वत हेतुत्व विवक्षा मानते हैं तो 'अय मार्तण्ड इत्यादि मे जहॉ हेतुत्व विवक्षा नहीं है ससन्देह अलकार नहीं हो सकेगा। अनवधारणा मे यदि अनिश्चितता माने तो उत्प्रेक्षा मे अतिव्याप्ति होगी और यदि अनिश्चितता का अर्थ एक कोटि मे स्थिर नहीं मानते हैं तो अपह्नुति में अतिव्याप्ति होगी। 'प्रकृताश्रया' पद भी ठीक नहीं है क्योंकि कभी–कभी वर्णनीय प्रकृत पदार्थ सन्देह का आश्रय होता है। यहॉ ब्रह्मा सन्देह का आश्रय है ।

दीक्षित जी ससन्देह के दो भेद मानते हैं –

प्रसिद्ध कोटिक और कल्पित कोटिक –

---

१ चित्र मीमासा पृ० २०२

प्रसिद्ध कोटिक यथा –

पकज वा सुधाशुर्वेत्यस्माक तु न निर्णय ।[1]

मुख कमल है या चन्द्रमा हम किसी निर्णय कर नहीं पहुच पाए है।

कल्पित कोटिक–

जीवनग्रहणे नम्र गृहीत्वायु न सन्नत ।
कि कनिष्ठा किमु ज्येष्ठा घटीयन्त्रस्य दुर्जना ।।

यहाँ दुर्जन रहट से छोटे या बडे हैं निश्चित नही हैं। यहाँ ससन्देह कल्पित कोटिक है। पण्डितराज ने इस अलकार के दो लक्षण किए है –

प्रथम लक्षण यह है :–

"सादृश्यमूला भासमानविरोधका समबला नानाकोट्यवगाहिनी धी रमणीया सन्देहालकृति ।"[2] अर्थात सादृश्यमूला विरोध की प्रतीति जिसमें होती है, समान बल वाली, भिन्न – भिन्न कोटि में अवगाहन करने वाली बुद्धि रमणीय होने पर ससन्देहालकार होता है। सशयमात्र में अति व्याप्ति का वारण करने के लिए सादृश्यमूला विशेषण का निम्न पद्य मे उदाहरणार्थ दिया है –

अधिरोप्य हरस्य हन्त चाप परिताप, प्रशमय्यवान्धवानाम्,
परिणेस्यति वा न वा युवाय निरपादं मिथिलाधिनाथपुत्रीम् ।।[3]

माला रूपक में अतिव्याप्ति के वारणार्थ 'भासमानविरोधका' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा की व्यावृत्ति के लिए समबला विशेषण दिया। लौकिक सशय के निरसनार्थ रमणीय पद दिया है।

द्वितीय लक्षण निम्नवत् है :–

"सादृश्यहेतुका निश्चय सम्भावनान्यतराभिन्ना धी रमणीया सशयालकृति ।।

---

१ रस गगाधर पृ० २५६

२ " " "

३ " " "

अर्थात् निश्चय और सभावना से अतिरिक्त ऐसी बुद्वि जो सादृश्य के कारण होती हो तथा रमणीय हो सशयालकार होती है। वस्तुत यह उक्तिवैचित्र्य मात्र है। प्रथम लक्षण का तात्पर्यार्थ भी यही है।

अप्पय दीक्षित के "अस्या सर्ग विधौ मे लक्षण सगत नही हैं को पण्डितराज ने असगत सिद्ध कर दिया। उनके अनुसार प्रस्तुत उदाहरण मे परस्पर प्रतिक्षेप करने वाले नाना कोटिक बुद्धि स्वरूप सन्देहालकार की अव्याप्ति नहीं होती है। रसगगाधर मे शुद्ध, निश्चयग्रथ और निश्चमानत इस प्रकार ससन्देहालकार और के उभेद कहे गये हैं।

शुद्ध ससन्देह – जहाँ आरम्भ से अत तक सन्देह बना ही रहे रसगगाधर मे शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयान्त इस प्रकार ससन्देहालकार के तीन भेद कहे गये है।

१– <u>शुद्ध संसदेह –</u> जहा आरम्भ से अन्त तक सन्देह बना ही रहे वहा शुद्ध सन्देहालड् कार होता है। जैसे

मरकतमणि मेदिनी धरो वा तरूणतरस्तरूरेषा वा तमाल,

रघुपतिमवलोक्य तत्र दूरादृषि निकौरिति सशय प्रपेदे।।[1]

२– <u>निश्चयगर्भ :–</u>

जहाँ सन्देह के साथ – साथ उसकी निवारण करने वाली दृढ बुद्धि का भी वर्णन होता रहे जैसे –

तरणि तनया कि स्यादेषा न तोयमयी हि सा

मरकतमणिज्योत्स्ना वा स्यान्नसा मधुरा कुत ।।

इति रघुपतौ कायच्छाया विलोकन कोतुके।

वनवसतिभि कैकै रादौ न सन्दिदिहे जनै ।।[2]

इसमें पहले सन्देह फिर वह अयथार्थ प्रतीत होता है पुन दूसरा निश्चय होता है।

१– रसगड्गाधर पृष्ठ – २५७

२– रसगड्गाधर पृष्ठ – २५७

३– **निश्चयान्त :–**

वहाँ होता है जहाँ क्रमश अनेक सन्देह होते हैं और अन्त मे कोई निश्चित ज्ञान होता है। यथा –

चपला जलदाच्युता लता वा तरूमुख्यादिति सशये निमग्न,
मुख नि श्वसितै कपिर्मनीषी निरणैसीदथ ता वियोगीनीति।।[1]

उक्त उदाहरण मे वियोगिनी नायिका के सम्बन्ध मे क्रमश विद्युत् व लता प्रकारिका भ्रान्ति होती है एव अन्त मे यथार्थ निश्चय होता हैं।

इसी तरह कुछ के मत से आरोपमूलक और साध्यवसानमूलक ससन्देह भी होता है –

१ **आरोपमूलक ससन्देह –**

वहाँ होता है जहाँ उपमान व उपमेय दोनों का शब्दश ग्रहण किया गया हो जैसे — उक्त पद्य।

२ **साध्यवसान मूलक :–**

जहाँ उपमेय का ग्रहण न करके केवल उपमान का ही ग्रहण किया जाये वहाँ साध्यवसान मूलक अलकार होता है जैसे—

सिन्दूरै परिपूरित किमथवा लाक्षारसै क्षालित,
लिप्त वा किम् कुड्कुमद्रवभरैरेतन्महीमण्डलम्।।
सदेह जनयन्नृणामिति परित्राතत्रिलोकस्त्विषा।
व्रात प्रात रूपा तनोतु भवता भव्याति भासा निधे।।[2]

इसमें सवित्रि विषयक रति का परिपोषक होने से ससन्देह मुख्य अलकार है। इसी तरह वाच्य, लक्ष्य, व्यड्ग्य, भेद से ही ससन्देहालकार तीन प्रकार का होता है।

१– रसगड्गाधर पृष्ठ – २५८

२– रसगड्गाधर पृष्ठ - २५८

वाच्य ससदेहालङ्कार के उदाहरण ऊपर दिये जा चुके हैं ।

व्यग्य ससन्देहालकार के उदाहरण जैसे –

साम्राज्यलक्ष्मीरियमृष्यकेतो सौन्दर्यसृष्टेरधिदेवता वा।

रामस्य राममवलोक्य लोकैरिति स्म् दोलारूरूहेतदानीम्।।[1]

व्यग्य ससन्देहालकार के उदाहरण जैसे –

"तीरे तरूव्यावदन सहास नीरे सरोज च मिलद्विकासम् ।

आलोक्य धावत्युभयत्र मुग्धा मरन्दलुब्धालिकिशोरमाला।।[2]

साधारण धर्म के आधार पर भी ससन्देहालकार के विविध प्रकार होते हैं। ससन्देहालकार की ध्वनिके सम्बन्ध मे अप्पय दीक्षित जी ने निम्न पद्य दिया है–

कांचित् काचनगौरागीम् वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।

वरद सैंशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत्।।[3]

इसमें सशय शब्दश कथित हो गया है, परन्तु उतना मात्र होने से अलकार की हानि नहीं होती, क्योंकि संशयालकार का प्रयोजक वक्षस्थल में स्थित रहते हुए ही लक्ष्मी वहाँ से उतरकर सम्मुख बैठी हैं इस प्रकार का सशय <u>वक्षःस्थल को देखा</u> इससे व्यग्य होता है। अत सन्देहालकार की ध्वनि यहाँ है, साराश यह है कि "काचित् काचन्" इत्यादि मे भी सशय का शब्दश उल्लेख हो जाने पर भी उसकी व्यग्ययता प्रतीत होती है।

पण्डितराज को इस पर कड़ी आपत्ति है। इसके प्रमाण के लिए पण्डितराज ने ध्वनिकार का निम्न अंश प्रस्तुत किया है।

१– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २६०

२ - रसगङ्गाधर पृष्ठ – २६०

३ - रसगङ्गाधर पृष्ठ – २६१

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तोऽपि व्यग्योऽर्थ कविना पुन ।

यत्राविष्क्रियो स्वोक्त्या सान्यै वालकृतिर्ध्वने ।।[1]

उक्त के खण्डन मे पण्डितराज का रसगङ्गाधर का मत पृ० २६२–२६३ दृष्टव्य है।

१– इस प्रकार आनन्दवर्धनाचार्य एव तट्टीकाकार को प्रमाण बनाकर अप्पयदीक्षित को इन्होंने असगत सिद्ध कर दिया है।

समवलोकनः–

पण्डितराज द्वारा भेदों मे आरम्भिक तीन भेदो के अतिरिक्त अन्य भेद–प्रभेद जो बतलाये गयें हैं वे नवीन हैं। यह सर्वप्रथम पण्डितराज ने ही उठाया ऐसी बात नहीं क्योकि पूर्वाचायो को भी यह मान्य था। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उसका विस्तृत रूप से स्पष्टीकरण पण्डितराज ने ही किया। पण्डितराज ने कोई नवीन विषय सम्मुख न रखकर केवल स्पष्टीकरण ही दिया है।

पण्डितराज द्वारा अप्पयदीक्षित का किया गया खण्डन विचारणीय विषय है कि वह उचित है या अनुचित। दीक्षित के मतानुसार –

कान्चित् काचन् गौरागीं वीक्ष्य साक्षादिवश्रियम्।

वरद· सशयापन्नो वक्षस्थलमवैक्षत् ।।[2]

दीक्षित के मत से यहाँ तीन सशय व्यग्य हैं——

१ युवती और लक्ष्मी इन दोनों मे कौन अधिक रूपवती है ?

२ युवती को सामने देखकर रूपगर्विणी लक्ष्मी का क्या हुआ होगा ?

३ वक्षस्थल में एक लक्ष्मी तो पहले से हैं, अब इस लक्ष्मी का क्या होगा ?

यहाँ व्यग्यार्थ चमत्कारी अवश्य है, किन्तु वही प्रधान है और इतना चमत्कारी है कि उसी में सहृदय का हृदय रम जाये ऐसी बात नहीं है। अत मेरे विचार से इसे गुणी भूत व्यग्य मानना ही उचित है। अत पण्डितराज का ही मत समीचीन लगता है।

१– धन्यालोक पृष्ठ २७१–२७२

२– चित्रमीमासा पृष्ठ २१५

भ्रान्तिमान् अलकार

भ्रान्तिमान् का अर्थ है भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान । अत्यधिक सादृश्य के कारण ही उपमान मे उपमेय की निश्चयात्मक भ्रान्ति को भ्रान्तिमान अलकार कहा जाता है। डा० ब्रहमानन्द शर्मा के मत से जहाँ एक ओर सादृश्य पर आधारित भ्रान्ति के कारण वाह्य होते हैं वहीं दूसरी ओर सादृश्य से अतिरिक्त भ्रान्ति के कारण आन्तरिक होते हैं। जब इसके कारण वाह्य होते हैं। फलत ऐसी दशा मे चमत्कार मूलत भ्रान्तिजन्य होती है, किन्तु इसके कारण जब अतिरिक्त होते हैं तब ये भ्रान्ति के विषय में न रहकर दर्शकों या पाठकों की चित्तवृत्ति मे अवस्थित रहती है।

फलितार्थ यह है कि यह अलकार केवल भ्रान्ति मे नहीं है, अपितु सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति में है। सादृश्य प्रयुक्त भ्रान्ति भी ऐसी हो जहाँ कवि प्रतिभा हो तथा इस अलकार का सर्वप्रथम विवेचन रूद्रट[1] ने किया। परन्तु उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन दण्डी ने अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में किया है।[2] वहीं भामह, उद्भट, वामनाचार्यों ने इसकी स्वतन्त्र सत्ता मानने से ही इकार कर दिया है। भोज, मम्मट, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित, जगन्नाथ इत्यादि आचार्यों ने इसका अपने-अपने ग्रन्थों में वर्णन किया हैं। "रूद्रट" ने अलकार सर्वस्व मे भ्रान्तिमान् का निम्न लक्षण प्रस्तुत किया है।

---

१ अर्थविशेष पश्यन्नवागच्छदन्यमेव तत्सदृशम्।
निसन्देह यस्मिन् प्रतिपत्ता भ्रान्तिमान् स इति।।

काव्यालकार ८/८७

२ शरीरमित्युत्प्रेक्ष्य तन्वगि त्वन्मुख त्वन्मुखाश्रया।
इन्दुमण्यनुधावामीत्येषा मोहोपमास्मृता।।

काव्यादर्श २/२५

'सादृश्याद्वस्त्वन्तरप्रतीतिर्भ्रान्तिमान" अर्थात् 'सादृश्य के कारण किसी अन्य वस्तु मे अन्य वस्तु की प्रतीति होना भ्रान्तिमान होता है"।[1]

उक्त लक्षण मे अतिव्याप्ति और अव्युत्पति दोष से ग्रस्त होने के कारण पण्डितराज ने इसका जोरदार खण्डन किया है –

अतिव्याप्ति –

१ ससन्देह और उत्प्रेक्षा मे भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति होती है। ससन्देह मे दो वस्तुओं के सादृश्य के कारण एक वस्तु मे अन्य वस्तु की सन्देहात्मक प्रतीति होती है और उत्प्रेक्षा मे भी सादृश्य के ही कारण एक वस्तु मे दूसरी वस्तु का भान होता है।

२ यदि यह कहे कि एक वस्तु में दूसरी वस्तु का निश्चय होन पर भ्रान्तिमान अतिलकार होता है तब भी रूपकालकार में इसकी अतिव्याप्ति होगी। रूपक मे वह प्रतीति निश्चयात्मक होती है।

३ यदि यह कहें कि उपमेयतावच्छेदकानवगाही निश्चय भ्रान्तिमान का स्थल है तथापि अतिशयोक्ति में होने वाली प्रतीति में अतिशयोक्ति होगी। अतिशयोक्ति मे उपमेय का उपमेयत्वेन बोध नहीं रहता है।

अव्युत्पत्ति :–

इसी प्रकार अनाहार्य निश्चय को भ्रान्तिमान कहा जाय तब भी दोष है क्योकि वह लक्षण भ्रान्ति मात्र का ही होगा भ्रान्तिमान् का नहीं अत इसकी सगति असगत होगी।

---

१ अलकार सर्वस्व पृ० ६८

दीक्षित जी ने चित्रमीमासा मे इसका लक्षण इस प्रकार दिया है –

कविसम्मतसादृश्याद्विषये पिहितात्मनि।

आरोप्यमाणानुभवो यत्र सा भ्रान्तिमान्मत ।।

जहाँ आरोप्यमाण विषयी चन्द्रआदि का अनुभव हो तथा जहाँ आरोप विषय 'मुख आदि" पर जिसका विषयत्व मुखत्व आदि छिपा दिया हो वहाँ भ्रान्तिमान अलकार होता है। आरोप विषय मे आरोप्यमाड विषयी का अनुभव कवि कल्पित होने पर लक्षण भी व्याप्ति रूपक आदि मे नहीं होती।[1] रूपक एव भ्रान्तिमान में अन्तर यह है कि रूपक मे विषय और विषयी का पृथक–पृथक ज्ञान रहते हुए विषयी मे विषय पर आरोप होता है अर्थात विषय मे विषयी का [illegible] होता है। परन्तु भ्रान्तिमान अलकार मे विषय छिप जाता हैं। अत पिहितात्मनि विशेषण से रूपक मे भ्रान्तिमान अलकार की अपिव्यप्ति नहीं होती है।

किन्तु पण्डितराज ने उक्त मत का जबर्दस्त खण्डन किया।

१- "पिहितात्मनि" विशेषण से रूपकादि मे अतिव्याप्ति नहीं होती है यह ठीक नहीं है क्योकि रूपक में आरोप्यमाण वस्तु का अनुभव वर्णित नहीं होता अपितु उससे अनुभव उत्पन्न होता है अर्थात् भ्रान्ति है। अनुभव रूप और रूपक है अनुमव का विषय । अनुभव –

---

१ पिहितात्मनीत्यनेनारोप्यमाणानुभवस्य स्वारसिक कविप्रतिमया कल्पन विवक्षितम् ।
तस्यैव विषयविधानसामर्थ्यात्। अतो रूपकादौ नातिव्याप्ति ।

चित्रमीमासा पृ० ७५

भ्रान्ति के लक्षण की अनुभूयमान अभेदरूप रूपक मे किसी प्रकार अतिव्याप्ति होती ही नहीं । अत पिहितात्मनि कहकर उसका वारण करना निर्मूल है।

२ रूपक पद से **रूपक का ज्ञान** यह अर्थ मानकर भी यदि उस विशेषण को सप्रयोजन सिद्धि किया जाय तो भी ससन्देहालकार मे अतिव्याप्ति होती है क्योकि उसमे भी विषयतावच्छेदक का बोध नहीं होता है।[1]

भ्रान्तिमान के भेद

अप्पयदीक्षित ने भ्रान्तिमान के चार भेद प्रस्तुत किए हैं । पण्डितराज ने एक भी अलकार भेद का निर्वचन नहीं किया है अपितु अप्पय द्वारा दिए गये एक विशिष्ट उदाहरण का खण्डन मात्र किया है—

१ शुद्ध भ्रान्ति

२ उत्तरोत्तरभ्रान्ति

३ भिन्नकर्तृक उत्तरोत्तर भ्रान्ति

४ अन्योन्यविषयक भ्रान्ति

शिन्जानैर्मज्जरीति स्तनकलशयुग चुम्बित चञ्चरीकै ।
स्तत्त्रासोल्लासलीला किसलयमनसा पाण्डय कीरद्रष्टा।।
तल्लोपायालपन्त्थ पिकनिनदधिया ताडिता काकलीकै।
रित्यं चालेन्द्रसिह त्वदरिमृगदृशा नाप्यरण्य शरण्यम्।।

प्रस्तुत उक्त पद्य मे भिन्नकर्तृक भ्रान्ति का निवधन स्पष्ट है। प्रसग मे भ्रमर, शुक एव काकु।

---

१ नहि दुग्धभागजलभागाना व्यामिश्रतास्तीति दुग्धलक्षण जलशान्ति व्याप्तिककर्तुम् युक्तम्।।

रसगगालकार भ्रान्ति प्र० पृ० २६८

भ्रान्ति से स्तनकलश, हस्तपल्लव एव वाणी को कमश मजरी, किसलय एव कोकिलकन्दन मान बैठे हैं।

इस पद्य पर पण्डितराज तथा आचार्य विश्वेश्वर ने दीक्षित जी का प्रबलतम् खण्डन किया है।

१ स्तन कलशों मे मन्जरी की भ्रान्ति कवि प्रसिद्ध नहीं है।

२ कीरदष्टा मे अविमृष्ट विधेयाश दोष है, कीरैर्दष्टा प्रयोग होना चाहिए।

३ पिकनिनदधिया मे कौओ को कोकिलालप मे नहीं अपितु कोकिलाओ मे भ्रान्ति ही सभव है। कोकिल ध्वनि हेतु कूजित प्रयोग उचित है, निनद नहीं।

४ त्वदरिमृगदृशा में अन्वय दोष भी है। दूसरे स्तन कलश रहकर पुन उसका मञ्जरी के साथ औपम्य दिखलाना भी अचमत्कारी है। सादृश्य पर ही आधारित रूपक और उपमा का निबन्धन उद्विग्नकारी हैं।

किन्तु यह देखा जाय तो यह आलोचना उचित नहीं है। उक्त दोष तो श्लोककार की है। हॉं, अप्पयदीक्षित ने ऐसे असगत श्लोक को ग्रहण क्यो किया यह चिन्तनीय है। दीक्षित जी ने अन्योन्य भ्रान्तिमान का एक उदाहरण दिया है –

"पलाशकुसुमभ्रान्त्या शुकतुण्डे पतत्यलि।
सोऽपि जम्बूफलभ्रान्त्या तमलिधर्तुमिच्छति।।"[1]

---

१. चित्रमीमासा पृ० २२१

समवलोकनोपरान्त यह तथ्य उभरकर आता है कि पण्डितराज द्वारा किए गये खण्डन व्याकरण के आधार पर ही है। इस आधार पर दीक्षित का किया गया खण्डन न्यायोचित नहीं है। अलकार सर्वस्वकार का भी पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन उचित नहीं हैं। पण्डितराज के इस आक्षेप के खण्डन मे नागेश भट्ट का खण्डन ध्यातव्य है। नागेश के मतानुसार प्रथम तो उक्त उदाहरण मे उल्लेखत्व और भ्रान्तित्व की सकीर्णता हो जाने से ही लक्षण मे कोई दोष उत्पन्न नहीं हो जाता है। जैसे – भूतत्व और मूर्तत्व के लक्षण की सकीर्णता पृथ्वी, जल तेज और वायु इन चारो पदार्थों मे रहती है। यदि भूतत्व और मूर्तत्व का लक्षण इसमे अतिव्याप्त हो जाय तो कोई दोष नहीं है। अत इन दोषो से किसी भी प्रकार बचना असभव है। अत दीक्षित जी के लक्षण पर ये सारे आरोप व्यर्थ प्रलाप मात्र है।

शिञ्जनानैर्मञ्जरीति इस उदाहरण मे फलत दीक्षित जी ने भ्रान्ति अलकार के अश मात्र को उदाहृत किया है वस्तुत यह इसका उदाहरण ही नहीं है, पण्डितराज के अनुसार जहाँ एकाधिक भ्रान्तिया होगी वहाँ भ्रान्तिया अलकार नहीं होगा। यहाँ परिभाषा के प्रसग मे पण्डितराज तो ठीक हैं किन्तु दीक्षित के आरोप के प्रसग मे पण्डितराज ध्यान वस्तुत इस पर नहीं गया कि इस अलकार मे यथार्थत कवि को भ्रान्ति नहीं होती, प्रत्युत अपनी प्रतिभा से वह अपने काव्य मे जिन पात्रो को निबद्ध करता है उनके भ्रम का ही वर्णन रहता है। कवि भ्रान्त व्याप्ति की वास्तविक भ्रान्ति का उल्लेख करके अपूर्ण आनन्द की योजना करता है। जहाँ तक विधेयाविमर्श का प्रश्न है वहाँ वाच्य रचना मे सामान्य सिद्धान्त विधेयाविमर्श से नियमित हैं।

अनुवाद्यमनुकत्यव न विधयमुदीरयेत्।

न ह्यलब्धास्पदकिंचित् कुत्रचित् प्रतितिष्ठति ।।

द्वितीय चरण मे इस नियम का स्पष्टरूपेण उल्लघन भी नहीं है। तृतीय चरण के [illegible] और नाद का जहाँ तक प्रश्न है वह आक्षेप अयथार्थ ही है। अत [illegible] उदाहरण [illegible] निकृष्ट कोटि का भी नहीं कहा जा सकता है।

रूपक के साथ भ्रान्तिमान का प्रदर्शित भेद पार्थक्य नैयायिक मतानुसार बौद्धिक व शास्त्रीय प्रतिपादन है। अनैयायिक सहृदय के हृदय मे उस भेद का प्राकट्य कठिन है।

उल्लेख अलङ्कार

प्राचीनालकारिको मे मम्मटाचार्य पर्यन्त इस अलकार का विवेचन कहीं नहीं प्राप्त होता है। इस अलकार का प्रादुर्भव किसने किया यह भी एक चिन्तनीय विषय है। किन्तु अलकार सर्वस्वकार रूय्यक ने इसका विशद स्पष्ट विवेचन सर्वप्रथम किया ऐसा कहा जा सकता है। प्रताप रूद्रीय,[1] साहित्य दर्पणकार[2] ने इसका विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। चन्द्रालोक[3], चित्रमीमासा, रसगड्गाधर मे भी इस अलकार का वर्णन प्राप्त होता है।

काव्य प्रकाश की उद्योतटीका मे उल्लेखालकार की स्वतत्र सत्ता का उल्लेख नहीं है।[4]

पण्डितराज ने उल्लेखालकार की दो स्थितिया सामने रखी। प्रथम की स्थिति निम्नवत् है –

---

१ अर्थयोगरूचिश्लेषैरूल्लेखमनेकधा।
ग्रहीतृभेदादेकस्य स उल्लेख सता मत ।।

प्रताप रूद्रीय पृ० ३८२

२ कवचिद् भेदाद् ग्रहीतृणा विषयाणा तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो य स उल्लेख उच्चते।। सा०दर्पण पृ०५२३

३ बहुभिर्बहुधोल्लेखादेकस्योल्लेख इष्यते। चन्द्रा पृ० ४५

४ एतेनैतादृशेषु विषयेषूल्लेरवालकारोऽयमतिरिक्त इति केषांचिदुक्ति परास्ता। गजयाते तिवृद्धाभिरित्यादि श्लोके नायमलकार। अध्यवसानाभावात्। चैव कोऽत्रालकार न कोऽपि।

का० प्र० प्रदीपोद्योत् पृ० ४६३।

अर्थात एक ही वस्तु का निमित्त के भेद से अनेक ग्रहीताओ के द्वारा अनेक प्रकार से ग्रहण होता है वही उल्लेख होता है। यथा –

अधर विम्बमाज्ञाय मुखमब्ज च तन्विते।

कीराश्च चचरीकाश्च विन्दन्ति परमा मुदम्।[1]

यहाँ 'एकस्य वस्तुन' कहने से वह उल्लेखालकार निरस्त हो जाता है। यद्यपि इसमे भी शुको और भ्रमरो के द्वारा अधर और मुख का कमश बिम्बाफल के रूप मे और कमल के रूप मे ग्रहण हो रहा है। अत उल्लेखालकार हो सकता है। इसी प्रकार 'धर्मस्यात्मा ममाधेय क्षमाया" इत्यादि मालारूपक मे यह लक्षण प्रवृत्त न हो अत "अनेकैग्रहीतृभि" यह पद प्रयुक्त किया।

उल्लेख में होने वाला ग्रहण एक व्यक्ति के द्वारा एक ही प्रकार का होता है। अनेक प्रकार का नहीं, परन्तु वह ग्रहण अनेक व्यक्तियो के द्वारा भिन्न – भिन्न हो सकता है।

इसी प्रकार जहा एक ही वस्तु का अनेक गृहीताओं के द्वारा एक ही प्रकार का बोध हो वहाँ भी उल्लेखालकार नहीं होगा। इसी को स्पष्ट करने के लिए लक्षण मे <u>अनेकप्रकारक</u> यह विशेषण रखा गया।

१– रसगगाधलकार पृष्ठ २२५

द्वितीय स्थिति मे उल्लेख का लक्षण इस प्रकार का है --

"यत्रासत्यपि ग्रहीत्रनेकत्वे विषयाश्रयसमानाधिकरणादीना सम्बन्धिनामन्यतमानेकत्वप्रयुक्तमेकस्य वस्तुनोऽनेकप्रकारत्वम।।[1]

अर्थात् अनेक ग्रहीताओ के न हाने पर भी विषय के आश्रय के समानाधिकरण्य वाले सम्बन्धियो मे से किसी एक का अनेकत्व प्रयुक्त एक वस्तु का अनेक प्रकारत्व हो।

उल्लेखालकार के इन दोनों प्रकारो मे वैशिष्ट्य यह है कि प्रथम मे जहाँ भिन्न-भिन्न ग्रहीतो के द्वारा नाना प्रकार के ग्रहणो का समुदाय ही चमत्कार उत्पन्न करता है और वहीं दूसरे मे तत्तद्विषयक भेद से भिन्न प्रकार समुदाय मात्र मे चमत्कार उत्पन्न करने की शक्ति से अलकारत्व होता है । इसमे जो ज्ञान प्रधान अश रहता है उससे अलकारता नहीं होती क्योकि वह चमत्कारी नहीं होता ।

अप्पयदीक्षित का मत :-

दीक्षित जी ने उललेख अलकार का वर्णन निम्नवत् किया है -

निमित्तभेदादेकस्य वस्तुनो यदनेकधा।
उल्लेखनम्नेकेन तदुल्लेख प्रचक्षते।।

जहाँ भिन्न-भिन्न व्यक्ति एक ही वस्तु का निमित्त भेद के कारण पृथक - पृथक अनुभव करे। लक्षण की व्याख्या करने से केन्द्रित होता है कि इसमे सभी पद सार्थक है -

---

१ रसगगाधर पृष्ठ २७४

अनेकेन :— कहने से माला रूपक मे इसकी अति व्याप्ति नहीं होती है क्योकि अनुभवकर्ता वहाँ एक ही व्यक्ति होता है। **अनेकधा** कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का अनुभव भी पृथक–पृथक होना चाहिए। **एकस्य** कहने का तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु का भिन्न–भिन्न प्रकार से उल्लेख हो वह वस्तु एक ही होनी चाहिए। **उल्लेखम्** कहने का तात्पर्य यह है कि वर्णन निषेध स्पृष्ट न हो ऐसा अपह्नुति मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति को रोकने के लिए किया गया। इन सबके पश्चात् भी यदि उसमे कोई अतिव्याप्ति दोष की सम्भावना करे तो उसका निवारण कैसे करना चाहिए इसे दीक्षित जी निम्नपद्य के द्वारा स्पष्ट करते है —

कान्त्या चन्द्र विदु केचित्सौरमेवाम्बुजपरे
वक्त्र तव वय ब्रुमस्तपसैक्य गत व्दयम्।।

इस अपहनुति के उदाहरण मे अतिव्याप्ति की शका हो तो अनेकधा उल्लेख मे निषेधास्पृष्टत्व विशेषण और जोड देना चाहिए। उससे प्रथमार्ध मे जिन दो मतो का उल्लेख हुआ है उनका उत्तरार्ध मे वर्णित तृतीय मत से निषेध व्यग्य होता है, अत अतिव्याप्ति नहीं होगी।[1]

---

१ एवमपि यदि 'कान्त्या चन्द्र' इत्यपहनवोदाहरण विशेषेऽतिव्याप्ति शक्या, तदानीमनेकधोलेखन निषेधास्पृष्टत्वेन विशेषणीयम् तत्राद्योल्लेखनद्वयम् पर्ममत्योपन्यास सामर्थ्याद् गम्यमाननिषेधमिति नाति व्याप्ति। चित्रमीमासा पृ० ७८

कि तु उक्त पद्य मे पण्तिराजने अपह्नुति नहीं अपितु सकीर्ण उल्लेख मा ा है। क्योकि उल्लेख दो प्रकार का होता है – शुद्ध और अलकारान्तर से सकीर्ण।¹ उनके मत से यस्तपोवनमिति मुनिभि' से शुद्ध और 'यमनगरमितिशतत्रुभि कहकर भ्रान्तिमान और रूपक आदि से सकीर्ण उल्लेखालकार है। यह अप्पय ने स्वय कहा है। अत उनकी इसी उक्ति के आधार पर 'कान्त्या चन्द्र" इत्यादि मे भी अपहनुति से सकीर्ण उल्लेख कहा जा सकता है। निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोडना व्यर्थ है। यदि दीक्षित जी निषेधास्पृष्टत्व विशेषण जोडकर अपहनुति के इस उदाहरण मे निवारण भी कर दे तो भी 'कपाले मार्जार ²इत्यादि स्वकीय प्रदत्त भ्रान्तिमान के उदाहरण मे उसकी निवृत्ति कैसे करगे ? अत सकीर्णाल्लेख के निवारणार्थ प्रयत्न व्यर्थ है।

उल्लेखालंकार के भेद :–

दोनो ही प्रकार के उल्लेखो के शुद्ध और सकीर्ण रूप से दो–दो भेद होते हैं । प्रथम प्रकार के शुद्धोल्लेख का उदाहरण जैसे –

नरैर्वर गति प्रदेत्यथ सुरै स्वकीयापगे।

x x x

१ द्विविधश्चायमुल्लेख शुद्धोऽलड्कारान्तरसड् कीर्णश्च।

रसगगाधर पृ० २७२

२– कपाले मार्जार पय इति कराल्लेढि शशिन

स्तरूच्छिद्र प्रोतान्विसमिति करी सकलयति।

रतान्ते तल्पस्थान्हरति वनिताप्यशुकमिति

प्रभामत्तश्चन्द्रो जगदिदमहो विभ्रमयति।। चित्र मीमासा पृ० ७५

तनोतु मम श तनो सपदि शन्तनोरगना।।[1]

अन्य किसी अलकार से मिश्रित न होने से यह शुद्ध है।

सड् कीर्णोल्लेख यथा –

आलोक्य सुन्दरिमुख तव मन्दहास

नन्दन्त्यमन्द मरविन्दधिया मिलिन्दा।

कि चालि पूर्ण मृगलाछन सम्भ्रमेण

चचूपुट चटुलयन्ति चिर चकोरा।।[2]

अनेक भ्रान्तियो का समुदाय होने के कारण ही उल्लेखालकार है।

द्वितीय उल्लेख का शुद्ध प्रकार यथा –

दीनब्रातेदयार्द्रा निखिलरिपुकुले निर्दया किच मृद्वी

काव्यालापेषु तर्कप्रतिवचनविधौ कर्कशत्व दधाना

लुब्धा धर्मेष्वलुब्धा वसुनि पर विपद्दर्शने काकिशीवा

राजन्नाजन्मरम्या स्फुरति बहुविधा तावकी चित्तवृति।।[3]

१– रसगगाधर पृ० २७१

२– रसगगाधर पृ० २७२

३– रसगगाधर पृ० १०४

सकीर्ण का उदाहरण यथा –

गगने चान्द्रिकायन्ते हिमायन्ते हिमाचले।

पृथिव्या सागरायन्ते भूपाल तवकीर्तय ।।[1]

फलोल्लेख–

यही उल्लेख जब फलो के विषय मे होता है तब फलोल्लेख होता है यथा –

अर्थिनो दातुमेवेति यातुमेवेति कातरा ।

जातोऽय हन्तुमेवेति वीरास्त्वा देवजानते।।[2]

इसमे विशेषण है दातृत्व आदिफल, अत फलोल्लेख है।

हेतूल्लेख –

जहाँ हेतुओ का वर्णन हो वहाँ हेतूल्लेख होता है।

हरिचरणनखरसगादेके हरमूर्धस्थितेरन्ये।

त्वा प्राहु पुण्यतमामपरेसुरतिटिनि सुरतिटिनि । वस्तुमाहात्म्यात्।।[3]

यहाँ गगा के विषय मे अनेक किया हेतुओ का वर्णन होने से हेतूल्लेख है।

१– रसागधर पृ० २७५

२– ,, ,, २७३

३– ,, ,, २७३

उल्लेखालंकार की ध्वनिः–

उदाहरण यथा –

अनल्पतापा हृतकोटिपापा गदैकशीर्णा भवदु खजीर्णा ।

विलोक्य गगा विचलत्तरगाममी समस्ता सुखिनो भवन्ति।।[1]

यहाँ शुद्धोल्लेख की ध्वनि है।

सकीर्ण उल्लेख यथा –

''स्मयमानाना तत्र ता विलोक्य विलासिनीम्।

चकोराश्चचरीकाश्च मुद वरतरा ययु ।।[2]

यहाँ भ्रान्ति से सकीर्ण उल्लेख है।

द्वितीय उल्लेख की ध्वनि जैसे –

भासयति व्योमगता जगदाखिल कुमुदिनीर्विकासयति।

कीर्तिस्तव धरिणगता सागरसुताया समफलता नयते।।[3]

इसमे अधिकरण में भेद के कारण एक ही कीर्ति का चन्द्रिका और सागर रूप से अनेक विध ग्रहण होने से रूपक से मिश्रित अलकार है।

समीक्षा :–

अप्पय दीक्षित के द्वारा दिए गये उदाहरण के खण्डन मे एक मात्र अनुभव ही प्रमाण है। दीक्षित जी के "कान्ताचन्द्र विदु केचित्" इत्यादि अपहनुति के उदाहरण मे अतिव्याप्ति वारणार्थ उल्लेख लक्षण मे "निषेध स्पर्श न किया हुआ" इस विशेषण इत्यादि के माध्यम से सारे किए गये प्रयासो को पण्डितराज निरर्थक बतलाते हैं, लेकिन वस्तुत वह उल्लेख सादृश्यगम अभेद प्रधान आरोपमूलक अलकार है।

---

१ रसगाधर पृष्ठ २७७

२ ,, ,, २७७

३ ,, ,, २७७

इसका उल्लेख न होकर वर्णन से है। इसमे एक ही वस्तु का अनेक प्रकार से वर्णन होता है। इसमे कार्य विषय तो एक होता है किन्तु इसका वर्णन व्यक्ति दृष्टिभेद के कारण अनेक प्रकार से करते हैं। जब ग्रहीता या अनुभविता किसी एक विषय को लेकर उसका उसका अनेकविध वर्णन करता है तो यह आवश्यक नहीं हैं कि वह उसमे निहित अनेक गुणो कार्यों या धर्मों का वर्णन करे ही। अत ऐसी स्थिति मे सम्मिश्रण से उत्पन्न दोषो के निवाणार्थ 'निषेध से असपृक्त" विशेषण की निरर्थकता सिद्ध नही होती है।

जहाँ मिश्रित उल्लेख मे निवाणार्थ लक्षण मे प्रयुक्त विशेषण का कथन है उसकी उपयोगिता तो इसी से सिद्ध होती है कि इन्हीं विशेषणो के बल से कवि वस्तु सौन्दर्य की व्यापकता का निदर्शन कर अपनी कल्पनाशक्ति को विस्तृत आयाम प्रदान करता है। एक वस्तु के लिए जितने उपमान प्रस्तुत किए जाते हैं उनका उस वस्तु के साथ अभेद या आभिन्नता होती है तथा उस पर अन्य पदार्थों का आरोप ही होता है। यही उल्लेख का वस्तुत सौन्दर्य है। अत दीक्षित जी का कथन सर्वथा दोष रहित है।

इस विषय मे अन्यो की तुलना मे कोई वैशिष्टय नहीं है, किन्तु उस विषय के साथ विवेचन और सकीर्ण व्याख्या एव प्रतिपादन में नूतनता अवश्य ही रमणीय है। सकीर्ण उल्लेखकरण मानना उचित है। जब उल्लेखातिरिक्त अलकार भी समान रूप से चमत्कारी हो। किसी पद का प्रधान होने पर सकर नहीं कहा जा सकता है।

अपह्नुति अलकार

सस्कृत साहित्य शास्त्राकाश मे इस अलकार का प्रचार–प्रसार प्राचीन काल से ही दिखलाई पड़ता है। वेद मे ब्रहम विषयक अवधारणा है कि वह परम पुरूष जगत का सर्जन कर के स्वय ही उसी में लीन हो गया है।[1]

ब्रहमसूत्रानुसार यह ससार ब्रहम एव माया का खेल है। जैसा कि श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध में वर्णित है कि श्री कृष्ण ने रासलीला मे अपने को पहले तिरोहित कर दिया। तदनन्तर वहीं अनन्त रूप धारण करके गोपिकाओ के साथ रमण किये।[2] उसी तरह यह अलकार भी अपने सादृश्य को तिरोहित करके अलौकिक सादृश्य बल से साहित्य जगत मे अवतीर्य होकर सहृदय मन को आनन्दित करता है। उपमेय की अपहनुति पश्चात उपमान का स्थापन ही इस अलकार का मूल है।

१— सत्यानृते मिथुनीकृत्य प्रवर्तितोऽय लोक व्यवहार ।

ब्रंह्म् सूत्र शाड्.करभाष्य उपोद्घात् पृष्ठ – १

२— कृत्वा तावन्तमात्मान यावतीर्गोपयोषित ।

रेमे स भगवास्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया।।

इस अलकार का प्रथम प्रादुर्भाव भामह ने अपने काव्यालङ्कार मे किया है।[1] उन्होने इसका अन्तर्भाव सादृश्य मूलक अलकार के अर्न्तगत किया है। कालान्तर मे उद्भट्ट, वामन, रूदट मम्मट, रूय्यक, जगन्नाथ आदि आचार्यों ने इस अलकार को स्वीकार किया। दण्डी ने इसे सादृश्यमूलक नहीं स्वीकार किया।

उन्होने उपमालकार मे इसका अन्तर्भाव किया।[2] इसी का अनुसरण सरस्वती कण्ठाभरणकार ने भी किया है।[3] विश्वनाथ और अप्पय दीक्षित इन दोनो ने सादृश्य सम्बन्ध को स्वीकार किया।

पण्डितराज ने इसका लक्षण करते हुए बताया कि –

'उपमेतावच्छेदकनिषेधसमानाधिकरण्येनारोप्यमाणमुपमानतादात्म्यमपहनुति ।।'[4]

अर्थात उपमेयता के अपने विशेष रूप का 'अवच्छेदक का' जिस आधिकरण मे निषेध हो उसी अधिकरण मे आरोप्यमाण 'उपमान का तादत्म्य वर्णित करने पर अपह्नुति अलकार होता है। रूपक मे इस लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ निषेध पद का विधान किया गया है। अपह्नुति और रूपक मे एक विशेष अन्तर यह है कि रूपक मे जहॉ उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों का निषेध के अभाव में समानाधिकरण होने से **एक ही स्थल में होने के कारण** विरोध नहीं होता है वहीं अपह्नुति मे उपमेय के विशेष रूप का निषेध होने से उपमेयतावच्छेदक और उपमानतावच्छेदक इन दोनों मे विरोध होता है।

१– अपह्नुतिरभीष्टा च किंचिदन्तर्गतोपमा।
भूतार्थापह्नवादस्या कियते चाभिधा यथा।।

३/२१ काव्यालङ्कार

२– उपमापहनुति पूर्वमुपमास्वेव दर्शिता
इत्यपहनुति भेदाना लक्ष्यो लक्ष्येषु विस्तर ।।

काव्यादर्श २/३०६

३– अपहनुतिरपहनुत्य किचदन्यार्थ दर्शनम्।
औपम्य वाचनोपमा चेति सा द्विविधोच्यते।।

सरस्वती ४/४१

४– रसगगाधर पृ० २७८

उदाहरणार्थ --

स्मित नैतत्कि तु प्रकृतिरमणीयम् विकसित

x x x

लतारम्या सेय भ्रमरकुलनम्या न रमणी।।[1]

इसमे कमश स्मिति मुख स्तनद्वय और रमणी रूप उपमेयो का निषेध करके उसी अधिकरण मे विकास कुमुद कनक फल और लता का तादात्म्य स्थापित किए जाने से अपह्नुति है।

अपह्नुति के भेद –

यह अपह्नुति चार प्रकार की होती है। पहले इसके सावयव और निरवयव ये दो भेद होते हैं। फिर इन दोनो मे वाक्य भेद एव वाक्या भेद होते हैं। सावयव अपह्नुति तो उक्त पद्य ही है।

निरवयव यथा –

श्याम सित च सदृशो न दृशो स्वरूप

कितु स्फुट गरलयेत दथामृत च।

नो चेद कथ निरयत् नादयौस्तदैव

मोह मृद च नितरा दधतो युवान ।।

१– रसगङ्गाधर पृष्ठ – २७८

इसमे विष और अमृत होने की जो प्रतिज्ञा की गई है उसके कारण रूप मे बाधक हतुओं का निबन्धन किया गया है। अत हेत्वपहनुति हैं। इसमे अग भूता अपह्नुति न होने से यह निरवयवा है।

वाक्यभेद –

जहाँ एक वाक्य से उपमेय का निषध हो और दूसरे वाक्य से उपमान का आरोप वहाँ वाक्य भेद होता है। जैसे –

स्मित नैतत्कि तु प्रकृतिरमणीय विकसित।

इस उदाहरण मे प्रथम चरण मे उपमेय का निषेध ओर उपमान का आरोप पृथक–पृथक वाक्यो से होने के कारण यहाँ वाक्य भेद भी है।

वाक्यैक्य –

जहाँ विष छल, छद्म, कपट, व्याज आदि शब्दो का प्रयोग होता है वहाँ वाक्यैक्य रहता है।

यथा –

वदने विनिवेशिता भुजगी पिशुनाना रसानामिषेण छात्रा।

अन्या कथमन्यथावलीढा नहि जीवन्ति जना मनागमन्या ।।[1]

यहाँ **<u>मिषेण</u>** के प्रयोग से वाक्य भेद नहीं हैं इसके अतिरिक्त भी अपह्नुति के अन्य भेद भी है, किन्तु वे प्राथमिक न होने से गणनीय नहीं है।

१- रसगगड्गाधर पृष्ठ – २७६

अप्पय दीक्षित जी ने एक और भेद **'पर्यस्तापह्नुति** नाम से किया है किन्तु वह कुवलयानन्द मे उद्धृत होने से प्रसगत यहाँ विषय नहीं है।

अप्पय दीक्षित जी ने इसका लक्षण निम्नवत किया है।

प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्वप्रकल्पनम् साम्यादपह्नुति ।।[1]

जहाँ प्रकृत पदार्थ के निषेध से सादृश्याधार पर अप्रकृत की कल्पना की जाये।

इस लक्षण मे सभी पदो की सार्थकता है। **' प्रकृतस्य निषेधेन''** कह देने से रूपक मे अप्रकृत का आरोप पाया जाता है निषेध नहीं। अत वहाँ अतिव्याप्ति नहीं होती है। साम्यात्' और यन्यत्वप्रकल्पनम् कह देने से आक्षेपालकार का निवारण हो जाता है क्योकि वह सादृश्यमूलक अलकार नही है। उसमे विषय का निषेध ही पाया जाता है अन्यत्वप्रकल्पनम् नहीं पाया जाता है। इसकी अतिव्याप्ति तत्वाख्यानोपमा मे भी नहीं होती है क्योकि वहाँ अप्रकृत का निषेध करके प्रकृत की स्थापना की जाती है जो अपह्नुति के ठीक विपरीत है।[2]

१- चित्रमीमासा पृष्ठ – २३७

२- चित्रमीमासा सुधा व्याख्या

पृष्ठ - २३७

कुछ ने प्रकृत प्रतिषिध्यान्य स्थापनम् निषिध्य विषय सम्यादारोप मे अपह्नुति के लक्षण किये हैं। इनके मतानुसार पहले प्रकृत का निषेध करने के पश्चात् उस पर अप्रकृत का आरोप किया जाता है, किन्तु इसका अपवाद भी है। अत ऐसी स्थिति मे आलकारिको के लक्षण सगत नहीं बैठते हैं। दीक्षित जी ने इसी को ध्यान मे रखकर प्रतिषिध्य निषिध्य न कहकर निषेधेन कहा है। यह लक्षण दोनो ही स्थित मे सगत बैठ जाता है।[1]

लक्षण मे साम्य और सादृश्य पदो से स्पष्ट है कि प्रकृत और अप्रकृत मे साधर्म्य होने पर ही अपह्नुति अलकार होता है। किन्तु दीक्षित के मतानुसार साधर्म्येतर सम्बन्ध मे भी अपह्नुति होती हैं। जैसे –

अमृतस्यन्दि किरणश्चन्द्रमामत्र नो मत.।

अन्य एवायमर्कात्मा विषनिष्यन्द दीधिति ।।[2]

सादृश्याभाव मे भी यहॉ प्रकृत मे अप्रकृत की स्थापना की गई है।

दीक्षित जी ने अपह्नुति के निम्न भेद किये हैं –

१ अनेक वाक्यवती।

२ एक वाक्यवती।

इन्हे कमश वाक्य भेदवती और वाक्याभेदवती कहा गया हैं।[3] वाक्य भेदवती अपह्नुति

१– चित्र मीमासा पृष्ठ – २३७

२– चित्र मीमासा पृष्ठ – २४३

३– चित्र मीमासा पृष्ठ – २३७

क दो भेद होते है।

१ – अपह्नवपूर्वक आरोप

२ – आरोपपूर्वक अपह्नव

अपहनव पूर्वक आरोप यथा –

अक कऽपि शशांकिर जलनिध पङक पर मनिर

सारगक चिच सजगदिरे मूच्छायमैच्छन्यरे।।

इन्दौ यद्दलितेन्द्र नीलशकलश्यामदरीदृश्यते।

तत्सान्द्र निशिपीतमन्धतमस कुक्षिस्थमाचक्ष्महे ।।[1]

यहाँ प्रकृत के निषेधोपरि अप्रकृतारोपण है।

आरोप पूर्वक अपहनवव जैसे –

मथान्नभूमिधर मूल शिलासहस्त्र,

सघट्टन ब्रण किण स्फुरतीन्दु मध्ये।।

छायामृग शशक इत्यति पामरोक्ति –

स्तेषा कथचिदपि तत्र हि न प्रसक्ति ।।[2]

यहाँ पहले अप्रकृत का आरोप है, तदनन्दर प्रकृत का निषेध है।

एक वाक्य की अपहनुति जैसे –

१– चित्र मीमासा पृष्ठ – २३६

२– चित्र मीमासा पृष्ठ – २४०

वत सखि किम् यदेतत्पश्य वैर स्मरस्य

प्रियबिरहकृशेऽस्मिन् कामिलोके तथापि।

उपवनसहकारोद्भासि मृगच्छलेन

प्रतिविशिखकमनेको टकित कालकूटम्।।[1]

यहाँ 'छल शब्द के प्रयोग से आम्रवृक्ष पर बैठते हुए भौरो का निषेध करके विषैले बाणो की स्थापना की गयी है।

अपह्नुति के एक अन्य भेद भी है, जहाँ प्रकृत वस्तु को छिपाने के लिए सादृश्य का प्रयोग किया जाता है। यथा –

बाले लज्जानिरस्ता नहि नहि स्वरले चोलक कि त्रपाकृत्।[2]

रूय्यक ने यहाँ का व्याजोक्ति माना है, किन्तु व्याजोक्ति का समर्थन न करने वाले आचार्य उद्भट्ट आदि यहा अपह्नुति का भेद मानते हैं। दीक्षित के मतानुसार दण्डी भी साधर्म्येतर सम्बन्ध को स्वीकार करते हैं। यथा –

"अपहनुतिरपहनुत्य किचिदन्यार्थसूचनम्।"

पण्डितराजाभिमत अपह्नुति की ध्वनि –

दयिते रदनत्विषा मिषादपि तेऽमी विलसन्ति केसरा।

अपि चातकवेषधारिणो मकरन्द स्पृहयालवोऽलय।।[3]

१– चित्र मीमासा पृष्ठ – १४०

२– चित्र मीमासा पृष्ठ – २४१

३– रसगड्गाधर पृष्ठ – २८२

यहाँ प्रकृत दन्तकान्ति और केश की तथा अप्रकृत कमलकेशर और अलिसमूह की एक ही किया विलसति और एक ही स्पृहयालुत्व गुन होने से तुल्ययोगिता प्रतीत हो रही है। वह गौण है और व्यग्य रूपा अपह्नुति प्रधान है।

<u>**ध्वनि के सम्बन्ध में दीक्षित जी का मत–**</u>

त्वरालेख्ये कौतूहल तरलतन्वी विरचिते,

विधायैका चक्र रचयति सुपर्णीसुतमपि।

अपि स्विद्यत्पाणि स्त्वरितमपमृज्यैतदपरा

करे पौष्य चाप मकरमुपरिष्टा च लिखति।।[1]

यहाँ यह पुण्डरीकाक्ष भी नही, अपितु साक्षात् कामदेव है, यह व्यग्य हो रहा है।[2] किन्तु पण्डितराज को यहाँ ध्वनि मान्य ही नहीं है – वे खण्डन करते हुए कहते हैं

१– <u>चक्रसुपर्ण लेखन</u> से <u>नाय साधारणः पुरूषः</u> किन्तु <u>पुण्डरीकाक्षः</u> यह कहना अनुचित है अपहनुति में दो भाग होते हैं उपमेय का निषेध और उपमान का आरोप। चक्र सूपर्ण लेखन रूप व्यजक शब्द निषेध की व्यजना करने में सामर्थ नहीं हैं।

१– चित्र मीमासा पृष्ठ – ८६

२– "इत्यादावपह्नुतिर्धवनिरूदाहर्तव्य । अथहि चक्रसुवर्णलेखनेन नाय साधारण पुरूष किंतु पुण्डरीकाक्ष इति कयाचिद् व्यजितम्। अन्यया या तस्या प्येतादृशस्या रूप न सम्भवतीत्यारोपेण।

" नाय पुण्डरीकाक्ष कोऽपि, किंतु मन्मथ

चित्रमीमासा पृ ८६

२- उक्त निषधात्मक अर्थ की प्रतीति अनुभव सिद्धि से पर है अत इसके कारण भी व्यर्थ है।

३- दीक्षित के अपहनुति के लक्षण ''प्रकृतस्य निषेधेन यदन्यत्व प्रकल्पनम् की सगति यहाँ न होने से अनुचित हैं क्योंकि जिसका निषेध किया गया है ऐसे भगवान् पुण्डरीकाक्ष प्रकृत विषय ही नही है। अत निषेध कैसे ! -

उपमेय का निषेध कैसा ? उपर्युक्त उदाहरण मे उपमेय पुण्डरीकाक्ष नहीं, अपितु नायक है। इसी भाव का पोषक मम्मट कृत लक्षण भी है।

१— ''प्रकृतस्य निषेधेन' कहकर दीक्षित जी ने स्वय इसे अपहनुति से बहिर्भूत कर दिया है।

२— यहाँ अपहनुति नहीं अपितु रूपक माना जाना चाहिए।

समीक्षा .—

यहाँ विषय प्रतिपादन मे ही मौलिकता है। विषय मे नूतनता का अभाव है। पर मत खडन विशेष कर दीक्षित जी का खण्डन पण्डितराज ने सामानाधिकरण्य को रख कर ही किया है। अत यह सिद्ध होता है कि विषयपरिष्कार करते समय पर मत खण्डन पर भी पर्याप्त ध्यान रहता था। पण्डितराज द्वारा कृत खण्डन का नागेश जी ने खण्डन किया है और लिखा है पण्डितराज का यह आक्षेप भी विचारणीय है। दण्डी के अनुसरण करके ही दीक्षित जी ने अपहनुति ध्वनि को प्रदर्शित किया है, अत कोई क्षति नहीं है।
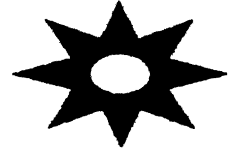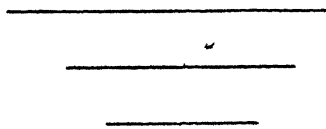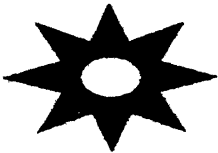
उत्प्रेक्षालकार

प्राचीन काल से ही यह अलकार उपमान और रूपक के अनन्तर सस्कृत साहित्य मे बहुजन समादृत होता रहा है और आज भी समादृत है। प्राय सभी आलकारिको ने इसके स्वरूप को निरूपित किया है। भामह ने इसे सादृश्य मूलक अलकार बतलाते हुए उपमा के साथ इसके सम्बन्ध को व्यक्त किया हैं।[1] दण्डी के प्रदर्शित "लिम्पतीव तमोऽगानि" इस उदाहरण को प्राय सभी ने स्वीकार किया है। काव्यप्रकाशकार ने उत्प्रेक्षा का निम्नवत लक्षण किया है —

" सम्भावन्मथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत्" अर्थात् प्रकृत (उपमेय) की उपमान के साथ सम्भावना उत्प्रेक्षा होती है। उत्प्रेक्षा और उपमा मे भेद करना कठिन होता है। उत्प्रेक्षालकार सादृश्य मूलक अभेद प्रधान अलकार है। उपमा अलकार मे उपमानोपमेय दोनों के सादृश्य की प्रतीति होती है, किन्तु रूपकालकार मे उन दोनो के तादात्म्य की। उत्प्रेक्षालकार में सादृश्य की सम्भावना होती है। रूय्यक ने इसके पर्याप्त भेद प्रदर्शित किए हैं और दीक्षित जी ने भी उन्हीं का अनुसरण किया हैं । सर्वप्रथम उपमा और उत्प्रेक्षा के बीच भेद पर विचार आवश्यक है। आचार्य विश्वेश्वर ने इसे इस तरह प्रदर्शित किया है।

---

१ अविवक्षित सामान्य किचिच्चोपमया सह।
एतद्गुणकियायोगदुत्प्रेक्षातिशयान्विता।।

भामह का० २/६१

२ लिम्पतीव तमोऽ ङ्गानि वर्षतीवाजन नभ।
इतीदमपि भूयिष्ठमुत्प्रेक्षालक्षणान्वितम्।।

काव्यादर्श २/२५

३ काव्य प्रकाश — दशमोल्लास

सूत्र १३६

१ मन्ये शके ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादय ।

उत्प्रेक्षा वाचका शब्दा इव शब्दोऽपि तादृश ।।

मन्ये, शके, ध्रुव, प्राय, नून ये उत्प्रेक्षा वाचक शब्द हैं। इनका प्रयोग उपमा मे नहीं होता है अत जहॉ इन शब्दो का प्रयोग होता है वहॉ स्पष्टत उत्प्रेक्षालकार होता है।

२ 'इव' शब्द का प्रयोग उत्प्रेक्षा मे प्राय किया पद के साथ होता है यथा – "लिम्पतीव तमोअंङ् गानि "

३ उपमा का प्राण सादृश्य है और उत्प्रेक्षा का प्राण सम्भावना है। उपमेय का वस्तुसत उपमान के साथ सादृश्य होने पर उपमा होती है। जबकि उपमेय की कल्पित उपमान रूपेण सम्भावना होने पर उत्प्रेक्षा होती है।

दीक्षित ने उत्प्रेक्षा का लक्षण प्रताप रूद्रीयकार विद्यानाथ से उद्धृत किया है –

यत्रान्य धर्म सम्बन्धादन्यत्वेनोपतर्कितम्।

प्रकृत हि भवेत् प्राज्ञास्तामुत्प्रेक्षा प्रचक्षते।।[1]

जहॉ अप्रकृत पदार्थ के धर्म सम्बन्ध के कारण प्रकृत मे अप्रकृत की कल्पना की जाये वहॉ उत्प्रेक्षा अलकार होता है।

"अन्यं धर्म सम्बन्धात्' का तात्पर्य यह है कि प्रकृत मे अप्रकृत की सम्भावना किसी धर्म सम्बन्ध के कारण ही हो, ऐसा सम्भव अलकार मे उत्प्रेक्षा

---

१ चित्रमीमासा पृ० २४७

लक्षण की अतिव्याप्ति वारणार्थ किया गया। सभव अलकार की पृथक सत्ता दीक्षित ने स्वीकार की है, किन्तु मम्मट, जगन्नाथ आदि ने नहीं। वे अतिशयोक्ति के तृतीय भेद मे ही इसका समावेश करते हैं। "अन्यत्वेनोपतर्कितम्" लक्षण मे इसलिए रखा गया है कि यदि प्रकृत मे अप्रकृत की कल्पना न होकर मात्र सम्भावना हो तो वहॉ उत्प्रेक्षालकार नहीं होगा।

यथा –

विरक्तसन्ध्या परुष पुरस्ताद् यतो रज पार्थिवमुज्जिहीते।

शके हनूमत्कथितप्रवृत्ति प्रत्युद्गतो मा भरत ससैन्य ।।

"उपतर्कितम" पद से अनुमानालकार का भी निषेध होता है क्योकि अनुमानालकार मे तर्क अथवा कल्पना का अभाव रहता है।

"प्रकृत" पद रखने का तात्पर्य यह है कि कल्पना प्रकृत गत होती है न कि अप्रकृत गत। अत जहॉ अप्रकृत से कोई सम्भावना होगी वहॉ उत्प्रेक्षालकार नहीं होगा।

पण्डितराज ने उत्प्रेक्षालकार का निम्न लक्षण किया है —

"तद्भिन्नत्वेन तदभाववत्वेन वा प्रमितस्य पदार्थस्य,

रमणीयतद्वृत्तितत्समानाधिकरणान्यतरतद्धर्मसम्बन्धनिमित्तक तत्त्वेन तद्वत्वेन

वा सम्भावनमुत्प्रेक्षा"

इस लक्षण में चार बार तत् पद का प्रयोग हुआ है। उनमें से द्वितीय 'तत्' पद विशेषपरक तथा शेष तीन 'तत्' पद विषयपरक हैं इसमे धर्म्युत्प्रेक्षा और धर्मोत्प्रेक्षा दोनों को लक्षित किया गया है।

---

१ रसगगाधर पृ० २८५

लक्षण मे 'तद् भिन्नत्वेन प्रमितस्य" कहने से "लोकोत्तर प्रभाव त्वां मन्ये नारायणं परम्' इसमे अतिव्याप्ति नहीं होती है क्योकि राज रूप विषय का पृथक रूप मे प्रत्यायन न होने से यहाँ उत्प्रेक्षा नहीं होगी।

वदन कमले नवाले स्मितसुषमालेशमावहसि यदा।

जगदिह तदैव जाने दशार्धवाणेन विजितामिति।।[1]

जगज्जय की सम्भावना मे उत्प्रेक्षा न हो जाये। अत. "रमणीयतद्धर्म निमित्तकम्" यह विशेषण दिया है।

रूपक मे अभेद का निश्चय रहता है किन्तु उत्प्रेक्षा में अभेद की सम्भावना रहती है। अभेद ज्ञान का वारण करने के लिए ही 'सम्भावनम्' विशेषण दिया है। उत्प्रेक्षा के भेद इस प्रकार है। —
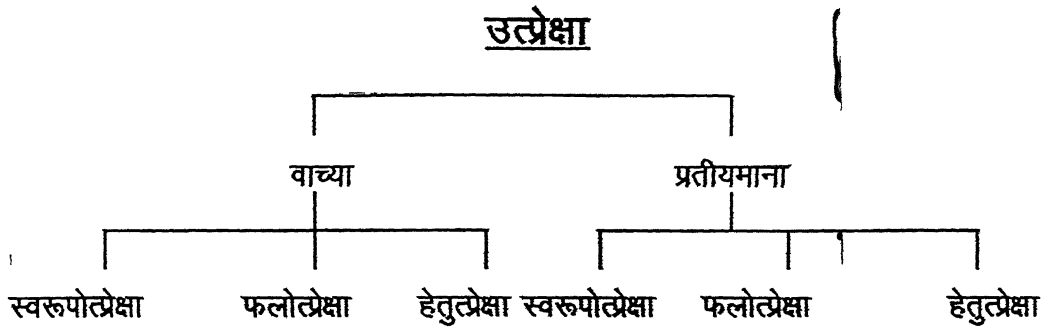
वाच्या:—

जहाँ नूनम्, इव, मन्ये, जाने, अवेमि, शंके इत्यादि के द्वारा सम्भावना का कथन हो वहाँ वह उत्प्रेक्षा वाच्य होती है।

---

१ रसगगाधर पृ० २४८

स्वरूपोत्प्रेक्षा –

जब जाति, गुण क्रिया और प्रन्मला पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पदार्थो का तादात्म्य सम्बन्ध से जाति गुण, क्रिया और द्रव्य रूप पदार्थों के साथ अभेद सम्भावित किया जाये तो स्वरूपोत्प्रेक्षा होती है। इसके अनेक भेद होते हुए भी केवल स्वरूपोत्प्रेक्षा ही चमत्कारी है।

हेतूफलोत्प्रेक्षा, या फलोत्प्रेक्षा – यही सम्भावना जब हेतू या फल के रूप मे की जाती है तब हेतू फलोत्प्रेक्षा, या हेतूत्प्रेक्ष कहलाती है। जातियुक्त स्वरूपोत्प्रेक्षा, गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा, क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा, द्रव्यस्वरूपोत्प्रेक्षा, मालास्वरूपोत्प्रेक्षा आदि स्वरूपोत्प्रेक्षा के भेद हैं। मूलग्रन्थ मे ये भेद है।

इसी तरह हेतूत्प्रेक्षा के भी विविध भेद हैं, गुण, जाति, क्रिया, फलोत्प्रेक्षा आदि प्राचीन आलकारिको के अनुरोध से ही हैं। वस्तुत उनमे कोई चमत्कार नहीं हैं। उपर्युक्त सभी उदाहरण धर्म्युत्प्रेक्षा के हैं। धर्मोत्प्रेक्षा का उदाहरण निम्न है —

निधि लावण्याना तव खलु मुख निर्मितवतो,

महा मोह मन्ये सरसिरूपसूनोरूपचितम्।

उपेक्ष्यत्वा यस्माद्विधुमय मकस्मादिह कृती

कलाहीन दीनं विकल इव राजानमतनोत्।।

इस पद्य मे मोह रूप धर्म का ब्रहमा में समवाय सम्बन्ध से सम्भावना होने से उत्प्रेक्षा है।

---

१ रसगाधर पृ० २६६

जहॉ इन उत्प्रेक्षाओ का साड्कर्य हो वहॉ प्राधान्य के आधार पर उत्प्रेक्षा का विधान कर लेना चाहिए। उत्प्रेक्षा मे स्वरूपोत्प्रेक्षा के स्थल मे उत्प्रेक्षा का आधारभूत धर्म उपमा के समान विम्बप्रतिविम्बभावादि अनेक प्रकार का होता है तो वह कहीं उपात्त और अनुपात्त होता है और हेतुत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षा मे वह धर्म कल्पित होने पर भी विषयानिष्ठ स्वभाविक धर्म से अभिन्न रूप मे अध्यवसित होकर निमित्त बन जाता है तो वह धर्म सदा उदात्त ही रहता है। इस प्रकार साधारण धर्म और विषय के आधार पर भी उत्प्रेक्षा के अनेक भेद सम्भव होते हैं।

समीक्षा –

उपमा और रूपक के अनन्तर उत्प्रेक्षा का महत्वपूर्ण स्थान है। उत्प्रेक्षा के प्राय दो भेदो धर्मोत्प्रेक्षा और धर्म्युत्प्रेक्षा को प्राय सभी आलकारिको ने स्वीकार किया है, किंतु पण्डितराज के मत मे प्राचीनमत से विलक्षणता जाता है।

प्राचीनमतानुसार धर्मोत्प्रेक्षा का स्थल वहॉ है जहॉ एक धर्म के साथ दूसरे धर्म का अभेद सम्बन्ध सभावित किया जाता हो। पण्डितराज के अनुसार धर्मोत्प्रेक्षा वहॉ होती है जहॉ एक धर्मी मे अन्य धर्मिगत किसी धर्म की सभावना उसके साथ रहने वाले अन्य धर्म के रहने के कारण की जाती है। इसको उन्होने विविध उदाहरणो से पुष्ट किया है। अर्थात् प्राचीनो मे दोनो उत्प्रेक्षाओ मे एक ही सम्बन्ध था। वह था अभेद और पण्डितराज के मत मे वह पृथक–पृथक होकर भेद और अभेद हो जाता है।

अलकार जैसे विषय मे उत्प्रेक्षा के ही लक्षण विवेचन मे न्याय शास्त्र का अवलम्बन लेकर दोनो ही उत्प्रेक्षाओ का लक्षण एक ही मे कर देने से विषय सहृदयो के मानस पटल पर क्लिष्टता और पण्डितराज के कभी–कभी पाण्डित्य प्रदर्शन के भाव को द्योतित करता है।

अलकार सर्वस्वकार आचार्य रूय्यक ने उत्प्रेक्षालकार के सम्बन्ध मे एक नवीन दृष्टिकोण विचार तथा स्वस्थ स्वरूप अभिव्यक्त किया। इन्होने सभावना एव अध्यवसाय के स्थान पर साध्य अध्यवसाय पद का प्रयोग किया है। इनके मत से अध्यवसाय मे व्यापार की जब प्रधानता होती है तब उत्प्रेक्षालकार होता है इसके दो भेद हैं–

१ साध्य

२ सिद्ध –

जब विषयी की असत्यता प्रतीत हो तो साध्य तथा जब असत्य विषयी का भी जब सत्य रूप मे बोध हो तब सिद्ध अध्यवसाय होगा उत्प्रेक्षा मे साध्य अध्यवसाय होता है। इसमे विषयी की प्रतीति सदा असत्य रूप मे ही होती है। रूय्यक ने लिखा है ––

"विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिविर्षयिणोऽध्यवसाय । स च द्विविध साध्य सिद्धश्च ।
साध्यो यत्र विषयिणोऽसत्यतया प्रतीति । असत्यत्व च विषयिमतस्य धर्मस्य विषय उपनिबन्धे, विषयिसमवित्वेन विषयासमवित्वेन च प्रतीते । ––––––––––
तदेवमप्रकृत्गुणकियासिम्बन्धादप्रकृतत्वेन प्रकृतस्य सभावन उत्प्रेक्षा ।"

–––– रूय्यक

रूययक की मान्यता है कि उत्प्रेक्षा केवल अभेद सम्बन्ध से ही होती है। फलत उन्होने –

सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वा
भ्रष्ट मया नूपुरमेकमूर्व्याम्।
अदृश्यत् त्वच्चरणारविन्द –
विश्लेषदु खादिव वद्धमौनम्।।[1]

---

१ चित्रमीमासा उत्प्रेक्षा पृ० ३२३

इस उदाहरण मे नूपुर मे रहने वाले मौनत्व को हेतु बनाकर दुखरूपी गुण की उत्प्रेक्षा की गयी है। इस उत्प्रेक्षाका नुपूर मे रहने वाले शब्दहीन होना से अभिन्न मात्र हुआ मौनत्व ही निमित्त है।

इसी प्रकार **लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽजन नभ** मे लेपन किया के कप्त की उत्प्रेक्षा है और उसमे व्याप्त होना निमित्त है।

पण्डितराज के मत से रूय्यक के ये सारे मत या सिद्धान्त परस्पर विरोधी है। उन्होने इसका खण्डन अपने ढग से किया है। ''सैषा स्थली' के प्रसग मे उन्होने कहा है कि-

यदत्र मौनहेतुत्वेन नुपूरे विश्लेषदु खमुत्प्रेक्ष्यते। तत्र निश्चलत्वनिमित्तक नि शब्द - त्वाध्यवसित मौन निमित्तम्। विश्लेषदु खसमानाधिकरणत्वे सति नुपुरवृत्तित्वात्। न तु निश्चलनिमित्तके नि शब्दत्वविषये विश्लेषदु खहेतुक मौनममेदेनोत्प्रेक्षायामिव शब्दान्वितस्योत्प्रेक्षाया उत्सर्गसिद्धत्वात्। विषयस्य निगीर्णतया विषियणो विधेयानुपपत्तेश्च। यद्यप्येकालप्रभवत्वादि अस्ति साधारणो धर्मो निमित्तम्। तथापि तस्याचमत्कारित्वादुपमायामिवोत्प्रेक्षायामप्यप्रयोजकत्वाच्च। एव फलोत्प्रेक्षायामपि भवतीति रसगगाधरे पण्डितराज।[2]

किन्तु यर्थाथरूप मे देखा जाये तो ऐसी बात नही है। अपितु दीक्षित जी ने इसकी स्वीकृति कुछ सोच समझकर ही दी है। दीक्षित जी ने धर्मोत्प्रेक्षा के दो उदाहरणो मे गुणरूप धर्म का उत्प्रेक्षा के उदाहरण 'अस्या मुनीनामपि मोहमूले'' आदि के भेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा की व्याख्या स्पष्ट किया है। हॉ, किया रूप धर्म के उत्प्रेक्षा के मतभेद के

---

१ रसगाधर पृ० ३०१

२ अस्या मुनीनामपि मोहमूहे भृगुर्महान् दत्कुचशैलशीली।
नानारदाहलादि मुख श्रितोरूर्व्यासो महाभारत सर्ग योग्य ।।
चित्रमीमासा उत्प्रेक्षा पृ० ३४१ (नैषध)

विषय मे तो वहॉ भी विचार विमर्शोपरान्त यह सिद्ध कर दिया है कि वहॉ भी प्रथमान्त पद के अर्थ मे प्रकृत किया के कर्तृत्व की आश्रयता सम्बन्ध से अथवा कर्त्ता के अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा मानने मे कोई हानि नही है। जहॉ तक मौनत्व के अन्त प्रविष्ट को मानकर "मैषा स्थली यत्र इस स्थल पर अभेद के द्वारा लक्षण समन्वय प्रदर्शित किया गया है उसे पण्डितराज ने सिद्ध अवसान मानकर अतिशयोक्ति कहा है उस के विषय मे रुदयक ने अतिशयोक्ति और उत्प्रेक्षा भी सीमा निर्धारित करते हुए बताया है कि अतिशयोक्ति मे विषय या उपमेय का जहॉ पूर्णतया निगरण हो जाता है। वहॉ उत्प्रेक्षा मे विषय निगरण की प्रक्रिया की स्थिति मे रहता है। 'मुख मानो चन्द्रमा है' इत्यादि मे प्रदर्शित अभेद सम्बन्ध से उत्प्रेक्षा के विषय गे पण्तिराज के अतिरिक्त किसी को कोई आपत्ति ही नहीं है। भेद प्रभेदो के सम्बन्ध मे सविस्तर प्रस्तुतीकरण यहॉ प्रासगिक नही है। उत्प्रेक्षा अलकार के कुल परम्परागत वाच्योत्प्रेक्षा ११२ और प्रतीयमानोत्प्रेक्षा के ६४ भेद = १७६ है। किन्तु पण्डितराज ने इन दोनो आलकारिको की परम्परा माना है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पण्डितराज का मत स्वाभाविक विरोध को लेकर ही है। अत परम्परानुसार समीक्षा करने पर द्रविणपुङ्गव का मत ही समीचीन सिद्ध होता है।

अतिशयोक्ति

अतिशयोक्ति सादृश्यगर्भ - अभेद प्रधान अध्यवसायमूलक अर्थालकार हैं। इसका कोषगत अर्थ– बढा – चढाकर किया गया कथन है। अर्थात् कथ्य को इतना अधिक बढा चढा कर किया जाये कि वह लोक सीमा को पार कर जाये। उपमान के साथ उपमेय का अभेदत्व या अभिन्नता ही अतिशय है। इस अलकार मे कवि के मन का निसीम विस्तार हो जाता है। वह किन्हीं दो पदार्थो मे साम्य प्रदर्शित करता हुआ अपनी मानसी वृत्ति को एक पर ही इस प्रकार स्थिर कर देता है कि दूसरी उसमे सामने से सर्वथा सर्वदा के लिए अन्तर्हित हो जाती है। कवि ऐसी स्थिति मे लौकिक सीमाओ का बन्धन तोडकर कल्पना विहग को इतना विस्तृत आयाम देता है कि कार्य की पूर्व भागिता या कारण की परभाविता का वर्णन कर लोक विरूद्ध कथन करता है। मुख्यत कार्य का मूलउद्देश्य पाठक के मन मे कौतूहल उत्पन्न करके चमत्कारोपत्ति होता है।

भामह ने अतिशयोक्ति अलकार की स्वतत्र सत्ता स्वीकार की है।[1] दण्डी ने अन्यालकार के आश्रय रूप मे इसकी प्रतिष्ठा की है।

अलकारान्तराणामप्येकमाहु परायणम्।

वागीशमहिता मुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

काव्यादर्श २/२२०

---

१ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्।

मन्यन्तेऽतिशयोक्तितमलकार तया यथा ।। काव्यालङ्कार २/८१

मम्मटाचार्य ने सामान्य लक्षण न सही केवल प्रभेदो का निरूपण किया है –[1]

अप्पय दीक्षित ने भी चित्रमीमासा एव कुवलयानन्द मे इसका निरूपण किया है। दीक्षित जी सर्वप्रथम विद्यानाथ के प्रताप रूद्रीय से अतिशयोक्ति का लक्षण देते हैं ––

विषयस्यानुपादानात् विषयुपनिवध्यते।

यत्र सातिशयोक्ति स्यात् कवि प्रौढोक्तिजीविता।।

चित्रमीमासा अति प्र० पृ ४०५

रूपकातिशयोक्ति स्यान्निगीर्णाध्यवसानत ।

पश्यनीलोत्पलद्वन्द्वान्ति सरन्ति शिता सर

कु० अति पृ० ३८

चित्रमीमासा मे वर्णन अपूर्ण ही दिखलाई पडता है जैसा कि इस श्लोक से स्वत ही स्पष्ट है।[2]

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति का निम्न लक्षण दिया है – "विषयिणा विषयस्य निगरणमतिशय तस्योक्ति।" अतिशय का अर्थ है विषयी के द्वारा विषय का निगरण और उक्ति का अर्थ है इस प्रकार के निगरण का वर्णन करना। अर्थात् विषयी के द्वारा विषय के निगरण[3]

१– निगीर्याध्यवसान्तन्तु प्रकृतस्य परेण यत्।
प्रस्तुतस्य यदन्यत्व यदर्थोक्तौ च कल्पनम्।।
कार्यकारणयोर्यश्च पौर्वापर्यविपर्यय
विज्ञेयातिशयोक्ति सा। काव्य प्रकाश १०/१७/१७०

२– अप्यर्ध चित्रमीमासा न मुदे कस्य मासला।
अनूरुरिव धर्माशोरर्धेन्दुरिव धूर्जटे ।।
चित्रमीमासा ग्रन्थ स० पृ० –४१७

३ रसगाधर पृ० ३०६

का वर्णन ही अतिशयोक्ति है। अतिशयोक्ति मे अभेद नही होता है जेसे रूपक मे विषय मे विषयी दोनो उपस्थित रहते है अत अभेद रहता है किन्तु यहॉ उसका अभाव होता है। रसगगाधर मे इसका उदाहरण निम्न है --

कलिन्दगिरिनन्दिनी तटवनान्तर भासय-

न्सदापथि गतागत क्ल भर हरन्प्राणिनाम्।

स्फुरत्कनककान्तिभिर्नवलताभिरावेल्लितो

ममाशु हरतु श्रमानतितमा तमालद्रुम।[2]

अतिशयोक्ति के विविध भेद सावयवा, निरवयवा रूप मे प्रथमत दो प्रकार की होती है। आगे चलकर सम्बन्धासम्बन्ध, साधरणधर्म, भेदाभेद, कार्यकारण के विपर्यय के आधार पर इसके विविध भेद हो सकते हैं प्राचीनो का भी यही मत है।

एतद् भेदपचकान्यतमत्वमतिशयोक्ति सामान्यलक्षण किन्तु मम्मटाचार्य ने सम्बन्धासम्बन्ध के भेद को अस्वीकार किया है। नव्यमत से निगीर्याध्यवसान ही अतिशयोक्ति है। अन्य कोई भी भेद प्रमाण के अभाव मे अन्य अलकार ही हो सकता है। अतिशयोक्ति का भेद नहीं।

दीक्षित ने विद्यानाथ के अतिशयोक्ति अलकार के लक्षण को उद्धृत किया जो कि निम्नवत् हैं।[3]

---

१ रसगाधर पृ० ३०८

२ „ ३१३

३ विषयस्यानुपादानात् विषय्युपनिवध्यते।

यत्र सातिशयोक्ति स्यात्कविप्रौढोक्तिजीविता।।

चित्रमीमासा पृ० ३१६

अर्थात जहाँ विषय का उपादान न करते हुए केवल विषयी का निबन्धन किया जाये।

इस प्रकार इसके चार भेद माने गये हैं --

१ भेदेऽभेद

२ अभेदे भेद

३ सम्बन्धेऽसम्बन्ध

४ असम्बन्धेसम्बन्ध।

भेद मे अभेद यथा .

कमलमनम्भसिकमले

कुवलयमेतानि कनकलतिकायाम्।

सा च सुकुमारसुभगे --

त्युत्पातपरम्पराकेयम्।।[1]

यहाँ कमल, कुवलय और कनकलतिका का नायिका के मुख नेत्र ओर शरीर से भेद होने पर भी अभेद माना जाता है। भेद मे अभेदरूपा अतिशयोक्ति है।

अभेद मे भेद यथा :-

अन्येय रूपसम्पत्ति रन्या वैदग्ध्यधीरणी।

नैषा कमलपत्राक्षी सृष्टि साधारणीविधे।।[2]

यहाँ रूप आदि मे अभिन्न होने पर भी अन्य आदि के प्रयोग से भेद है।

सम्बन्ध मे असम्बन्ध यथा :-

"अस्या सर्गबिधौ प्रजापतिर भूच्चन्द्रोनुकान्तिप्रद

---

१ चित्रमीमासा पृ० ३२०

२ , „ ३२०

श्रृगारैक रस स्वय नुमदनो मासो नु पुष्पाकर ।

वेदाभ्यासजड कथ स विषय व्यावृत कौतूहलो।।

निर्मातु प्रणवेम्मन्मेहर मिद स्प पुराण। मुने ।।

प्रस्तुत पद्य मे नायिका के अपूर्व रूप का प्रजापति द्वारा सृजन सम्बन्ध होने पर भी सम्बन्ध नही माना गया है। अत सम्बन्धेऽसम्बन्ध रूप अतिशयोक्ति है।

असम्बन्ध मे सम्बन्ध यथा —

दाहोम्म प्रसृतिम्पच प्रचमन्वान्वाष प्रणालोचित

श्वासा प्रेखितदीप्तदीपकलिक पाण्डिम्निमग्न वपु ।

किच्चान्यत्कथयामि रात्रिमखिल त्वनमार्गवातायने

हस्तच्छत्रनिरूद्धचन्द्रमहसस्तस्या स्थितवर्तते ।।[2]

यहाँ चन्द्राकिरणो का दावादि से सम्बन्ध न होन पर भी सम्बन्ध माना गया है। अत असम्बन्धे सम्बन्ध रूपा अतिशयोक्ति है।

किन्तु इसके बाद ही दीक्षित ने विषयस्यानुपादानात्" अश की आलोचना की है — ' विषय का उपादान न करते हुए" इस अश के दो अर्थ हो सकते है।

१— जहाँ विषय के प्रतिपादक अर्थ का अभाव हो।

२— जहा विषय के वाचक पद का अभाव हो।

यदि हम पहला अर्थ लेते हैं तो विद्यानाथ का लक्षण घटित नही हो सकेगा यथा भेदे अभेदे के उदाहरण मे कमल शब्द लक्षणा से मुख का

---

१ चित्रमीमासा पृ० २१२

२ चित्रमीमासा पृ० ३२०

प्रतिपादक हो ही जाता है, भले ही वह वाचक न हो। यदि दूसरा अर्थ लेते है तो चुम्बतीव रजनी मुख शशी' मे विद्यानाथ का लक्षण घटित नही होगा। अत इसके निदर्शनार्थ काव्य शास्त्रियो न विषयस्यानुपादानात् के निम्न अर्थ किए है --

१– जहाँ विषय प्रतिपादक शब्द से पृथक विषय प्रतिपादक शब्द का अभाव हो। ऐसे मे भी उक्त लक्षण की सगति नहीं बैठेगी ।

यथा –

पल्लव कल्पतरोरेष विशेष करस्यते वीर,

भूषयति कर्णमेक परस्तु कर्ण तिरस्कुरूते।।[2]

२– जहाँ विषयि प्रतिपादक से सर्वथा विलक्षण विषय प्रतिपादक का अभाव हो ऐसा मानने पर भी लक्षण निर्दोष नही हो सकता है यथा –

उरोभुवा कुम्भयुगेन जृम्भित,

नवोपहारेण वयस्कृते न किम्।।

त्रपासरिद्दुर्गमपि प्रतीर्य सा।

नलस्य तन्वी हृदय विवेशयत्।।[3]

अत दीक्षित के मत मे विद्यानाथ का लक्षण निर्दुष्ट नही है।

---

१ चित्रमीमासा पृ० १५३

२ चित्रमीमासा पृ० ३२२

३ चित्रमीमासा पृ० १६३

चित्रमीमासा मे १२ अलकार ही चित्रकाव्य के उपस्कारक है। सामान्यत आलकारिको ने सभी अलकारो को चित्रकाव्य का उपस्कारक माना है। कुवलयानन्द मे अतिशयोक्ति वर्णन पूर्णत होने के कारण रसगगाधरकार ने उसी की समीक्षा की है। कुवलयानन्द ने अतिशयोक्ति का निम्नवत् लक्षण दिया गया है।

विषयस्य स्वशब्देनोल्लेखन विनापि विषयिवाचकेनैव शब्देन ग्रहण विषयनिगरण तत्पूर्वकविषयस्य विषयिरूपतयाअध्यवसानमाहार्य निश्चयस्तस्मिन् सति अतिशयोक्ति ।[1]

अर्थात् जहॉ विषय का स्वशब्द से निर्देश न हो अपितु विषयी के वाचक शब्द द्वारा उसका बोध हो वहॉ अतिशयोक्ति होती है। इसी को चित्रमीमासा सुधा व्याख्याकार धरानन्द ने इस प्रकार रखा है --

"विषयोल्लेखनमृते विषयाध्यवसायात्माभिधानत ।

तस्योक्तिर्व्यंग्यभिन्ना यातिशयोक्ति सा मता।।[2]

व्यजना वादी आचार्य मम्मट ने इसकी महत्ता इतनी स्वीकार की है कि इसके बिना उनके मत मे कोई अलकार ही नहीं हो सकता है।[3] आलकारवादियो ने इसे सभी का जीवन कहा है। मम्मट और कुन्तक ने इसी को वक्रोक्ति कहा है। किन्तु पण्डितराज ने कुवलयानन्द को आधार मानकर इसकी आलोचना की है। उन्होने रसागाधर मे अतिशयोक्ति

---

१ कुवलयानन्द पृ० ४४

२ चित्रमीमासा पृ० -३२५

३ सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयाऽर्थोविभाव्यते।
यत्नोऽस्याकविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया बिना।।
काव्य प्रकाश

प्रकरण मे निम्न श्लोक को सामने रखकर समीक्षा की है –

जगज्जाल ज्योत्स्नामयनवसुधाभिर्जटिलय–

जगाना सताप त्रिविधिमपि सद्य प्रशमयन्।

श्रितो वृन्दारण्य नत निखिल बृन्दारकनुतो।

ममस्वान्तध्वात तिरयतु नवीनो जलधर ।।

रसगाधर अति०पृ० ३१०

डा० गुञ्जेश्वर चौधरी ने इस पर प्रकाश डालते हुए अपनी पुस्तक में लिखा है —

अत्र विषयधर्मविशिष्टतया कल्पितेन लोकोत्तरजलधररूपेण भगवत प्रतिपादने तत्समानाधिकरणत्वेन कल्पिताना विषेषणांनामानुगुण्यम्। एवम् च निगीर्णे सर्वत्रापि विषयितावच्छेदकधर्मरूपेणैव विषयस्य भानम् [2] तेनावाप्य भेदातिशयोक्ति स्तादूप्यातिशयोक्तिरिति द्वैविध्य कुवलयानन्दे यदुक्त तन्निरस्तमिति पण्डितराजभिप्राय ।।"[3]

किन्तु पण्डितराज के इस मत का नागेश ने अपने गुरू मर्म प्रकाश टीका मे खण्डन करते हुए श्री दीक्षित के मत का ही मण्डन किया हैं। उनके मत से पण्डितराज का किया गया खण्डन मम्मटाचार्य के काव्य प्रकाश पर आधारित है। इसके लिए उन्होने कुवलयानन्द के निम्नलिखित पद्य को समक्ष रखते हुए व्याख्या की है –

---

१ रसागाधर अभि पृ० ३१०

२ पण्डितराजकृताप्प्यदीक्षितसमीक्षाविचेनम् पृ० १०४

३ रसागाधर अति० पृ०३१०

सुधावध्दग्रासैरूपवनचकोरैरनुसृताम्

किरज्योत्स्नामच्छा लवलिफलपाकप्रणयिनी।

उपप्राकाराग्र प्रगृणु नयने तर्कयमना –

गनाकाशे कोऽय गलितहरिण शीतकिरण।[1]

इत्यादौ प्रसिद्धविषयितावच्छेदक प्रकारकबोधस्य बाधबुद्धि पराहतत्वात्को अयमित्यनेन निरस्तत्वाच्चावश्य चन्द्रकार्यकारित्वप्रकारकबोधोअगीकार्य। एषैव च ताद्रूप्यातिशयोक्ति – कहकर डा० गुज्जेश्वर ने व्याख्यादित किया है जिससे कि हम भी सहमत हैं। अत नागेश जी ने दीक्षित के मत का मण्डन युक्ति सगत ही किया है।

अतिशयोक्ति की ध्वनि

देवत्वदर्शनादेव लीयन्ते पुण्डराशय

कि चादर्शनत पापमशेषमपि नश्यति।।[2]

अत यहाँ जन्मशतोपमोग्य सुख – दुख का दर्शनादर्शनजन्य सुख–दुख से निगरण यहाँ ध्वनित होता है।

पडितराज के मत से अतिशयोक्ति मे अभेद अनुवाद्य रहता है और रूपक मे विधेय। यही दोनो का भेद है।

समीक्षा :

पण्डितराज ने अतिशयोक्ति अलकार का समीक्षात्मक विवरण प्रस्तुत किया है जो कि

---

१ कुवलयानन्द अति० पृ०३६

२ रसगगाधर पृ० ३१३

नवीन और प्राचीन दोनो दृष्टियो से ही पर्याप्त है। अतिशय और अतिशयोक्ति का सूक्ष्म विवेचन पण्डितराज ने किया।

निगरण को पूर्व की भाति अलकार न मानकर उस निगरण के कथन को अलकार न मानकर उस निगरण के कथन को अलङ् कार मानना पण्डितराज की नवीन तर्कणा है। प्राचीनो के भेदो को नव्य कहकर किया गया खण्डन वस्तुत इन्ही की देन है। किन्तु पण्डितराज की खण्डनात्मक बुद्धि व्याकरण और नैयायिक नय के आधार पर आधारित होने से दीक्षित जी का किया गया खण्डन इनके स्वाभाविक विरोध को ही प्रदर्शित करता है जो कि युक्तिसगत नही है।
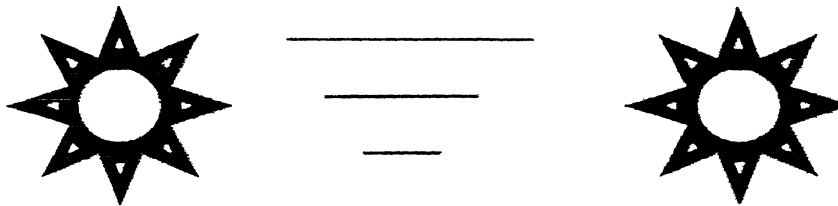
उपसंहार

प्रस्तुत विवेचन से यह पूर्णतया स्पष्ट है कि काव्यशास्त्र के अनन्ताकाश मे प्रखरप्रज्ञा एव उकृष्टमेधा के धनी अलकारवारी आचार्य दीक्षित जी का एव काव्य शास्त्रीय मन्थन के अनन्तर निसृत अमृतमयी कृति रसगगाधर के प्रणेता प्रखर समालोचक, सर्वविद्या निष्णात आचार्य पण्डितराजजगन्नाथ इन दोनो का अमूतपूर्व योगदान है। एक इस काव्याकाश का सूर्य है, तो दूसरा चन्द्र और दोनो का ही अपने – अपने स्थान पर अद्वितीय महत्व हैं।

दीक्षित जी ने 'चित्रमीमासा' ग्रन्थ का प्रणयन करके अलड्‌कार प्रधान वर्णनात्मक चित्रकाव्य को उत्कृष्ट स्थान दिलाया। उनके विचार से अलड्.कार प्रधान, वर्णनात्मक चित्रकाव्य, व्यग्य प्रधान, ध्वनि काव्य से भी किसी भी माने मे कम नहीं है। प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के परम्पराप्राप्त शास्त्रीय ग्रन्थों के गहन आलोचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि दीक्षित जी की धारणा परम्परावादी काव्य शास्त्रियो की धारणा से सर्वथा भिन्न है। प्राय सभी काव्यशास्त्रियो ने जिनमें व्यंजनावादी आचार्य प्रमुख हैं, चित्रकाव्य को अधम काव्य की श्रेणी में रखा है।[1] विश्वनाथ आचार्य ने इसका उल्लेख करके भी इसके रच मात्र महत्व को मानना भी स्वीकार नही किया। उनके मत से केवल दो ही काव्य के प्रकार है–

१– ध्वनिकाव्य

२– गुणीभूत व्यग्य

१– शब्द चित्र वाच्यचित्रमव्यग्यत्ववर स्मृतम्।

पण्डितराज जगन्नाथ इसे गुणीभूत व्यग्य मे ही समाहित करते हैं और इसे गुणीभूत काव्य का अजागरूक प्रकार बतलाते है। किन्तु इन सबसे हटकर आचार्य दीक्षित जी ने चित्रमीमासा ग्रन्थ का प्रणयन करके यह सिद्ध किया है कि चित्रकाव्य भी ध्वनिकाव्य के समान उत्तम अथवा उत्तमोत्तम कोटि मे आ सकता हैं।

काव्यशास्त्रीय निष्कर्ष पर तलस्पर्शी चिन्तन के उपरान्त यह तथ्य उभरता हैं कि इनकी कृतियो मे काव्य के चरमलक्ष्य रस के विषय मे कुछ भी नहीं कहकर केवल रसोत्पत्ति के माध्यम को खोजने का प्रयास किया गया है और उस पर विस्तृत चर्चा है । किन्तु यहाँ भी मतभेद है। व्यन्जनावादी आचार्यो के मत से रसनिष्पत्ति पद और पदार्थ के व्यग्य – व्यन्जक भाव से होती हैं। यही कारण रहा कि उन्होनें अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त व्यन्जनावृत्ति को भी स्वीकार किया हैं। किन्तु दीक्षित जी इससे असहमत होते हुए एक नवीन तथ्य और सर्वग्राही चिन्तन प्रस्तुत करते हैं कि जैसे व्यग्य के माध्यम से वैसे ही अलङ्कार के प्रयोग से भी रस निष्पत्ति होती है। सस्कृत साहित्य के सुधी, सहृदय पाठको से यह तथ्य किसी भी प्रकार से नही छिपा है कि कवि कुलगुरूकालिदास, करूणरस को ही आत्मा मानने वाले आचार्य भवभूति आदि के उच्चस्तरीय प्रबन्ध सहृदय मनस मे व्यन्जना से नही अपितु चित्रोपस्थिति के कारण ही उच्चकोटि की श्रेणी में आते हैं। राजादुष्यन्त शिकार कर रहे है मृग का और मृग की उच्चावच गमन अरण्य के बीच विविध चित्र–विचित्र स्थितियो मे ऐसा दृष्टात प्रस्तुत करता है कि पाठक मन्त्रमुग्ध सा अभिज्ञान शाकुन्तलम्' के रससरोवर में अपने को भुला बैठता है। आचार्य भवभूति की लेखनी की अद्भूत चित्रकारिता का ही प्रमाण है कि राम को रोता हुआ देखकर पत्थर भी रोने लगते हैं,

सरल हृदयो की क्या विशात्।[1]

अत दीक्षित जी का यह कथन उचित है और हम व्यग्यप्रधान काव्य को ही काव्य माने तो शायद दो – तीन को छोडकर कोई ग्रन्थ सस्कृत साहित्याकाश मे उत्तम काव्य की श्रेणी मे आ सके। व्यजनावादी के पास इस आशका का कोई समाधान नहीं हैं। अत हम दीक्षित जी के इस तथ्य से पूर्णत सहमत हैं कि जिस प्रकार व्यग्यहीन, वर्णनात्मक, प्रतिकृतिरूप काव्य यदि वह वैचित्र्य, चमत्कृति और रमणीयता से परिपूर्ण है, तो रसास्वाद प्रस्तुत करने में उसी प्रकार पूर्ण सफल हो सकता है जिस प्रकार दृश्य काव्य के अचेतन दृश्य।

दीक्षित जी ने अलंकार को अलकार ध्वनि से पूर्णतया पृथक माना और अलकार ध्वनि में अलकार लक्षण की अतिव्याप्ति न हो इसके लिए अव्यंग्य शब्द का प्रयोग किया है।[2] उपमा अलंकार के प्रसंग में हम यह पाते हैं कि वस्तु, अलकार और रसात्मक तीनों भेदो को महाकवियों के काव्यों से उद्घृत किया है। वे एक साथ और अलग–अलग भी रह सकते है।[3] किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि चित्र और ध्वनितत्व । परस्पर

---

१ "अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्"।

उत्तररामचरितम्

२ "यदव्यग्यमपि चारू तच्चित्रम्"। चित्र मीमासा पृ० ३५

३ चित्र मीमांसा पृ० ११८, ११६

विरोधी हैं। वस्तुत दोनो के सहयोग से एक अति उत्कृष्ट कोटि के काव्य का निर्माण हो सकता है। दोनो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ध्वनि काव्य मे चित्र भी रह सकता है और चित्र काव्य मे ध्वनि भी रह सकती है और जो प्रधान होगा उसी से काव्य की सज्ञा होगी। दीक्षित जी का अपनी चित्रमीमासा कृति के माध्यम से इस तथ्य का उद्घाटन करना लक्ष्य था। ताकि वाच्य प्रधान अलकारोपस्कृत प्रतिकृति रूप चित्रकाव्य उसी प्रकार रसास्वादन मे सहायक हैं जिस प्रकार व्यग्यात्मक ध्वनि काव्य। दूसरे वही अलकार जो चित्र काव्य को अलकृत करते हैं, ध्वनिकाव्य को भी अलकृत कहते हैं। कभी कभी कुछ बाते इनके अन्य ग्रन्थो से भी लेनी अपरिहार्य थी, किन्तु मूलत शोध प्रबन्ध का उस प्रसग से सम्बन्ध न होने के कारण मुझे अपने मोह को छोडना भी पडा है।

पण्डितराज की जहाँ तक बात हैं उन्होने अपनी प्रखर मेधा से न केवल सबका खण्डन अपने पाण्डित्य–प्रकर्ष पर किया, अपितु नवीन दृष्टि या नवीन सिद्धान्त को भी स्थापित किया। यही कारण है कि अन्तिम अलकार शास्त्री होते हुए भी इनका स्थान वहीं है जो आचार्य मम्मट और आनन्द वर्धनाचार्य का रहा है। पण्डितराज के शास्त्रीय ग्रन्थो का गहन चिन्तन करने पर उनकी शैली की निम्न विशेषताये दृष्टिगोचर होती हैं जिनका उन्होंने अवलम्बन किया। न्यायप्रधान लक्षण, व्याकरणप्रधान लक्षण, मीमासा प्रधान, वेदान्त प्रधान, शास्त्रीय पीठिकाप्रधान और कही–कही खण्डयमानरीति से किया गया लक्षण इनके शास्त्रीय ग्रन्थ की विलक्षणता है जो कि इन्हे अन्यो से अलग करता हैं। न्याय का पण्डितराज के उपर इतना प्रभाव था कि वे उससे अपने को कहीं भी मुक्त नहीं रख सके।

लक्षणगत प्रत्येक पद की स्वय सार्थकता तथा सप्रयोजकता सिद्ध करना उनके महत्वपूर्ण अग थे। पदकृत्य का अधिकाशत प्रयोग उन्होने अपने मत की सिद्धि के लिए तथा पर मत खण्डन दोनो मे ही किया है। इनकी तीसरी विशेषता यह है कि ये परमतर खण्डन मे भी अधिक कुशल है। अलकार शास्त्रीय ग्रन्थो मे धन्य है – रसगगाधर और विलक्षण है रसगगाधरकार का परमत खण्डन। अपने मुख्य उद्देश्य कि परम्परा से प्राप्त विविध मतो की समीक्षा करना तथा किसी एक का उत्कर्ष सिद्ध करना। इन्होने तर्क की कसौटी पर कसने के उपरान्त ही किसी सिद्धान्त को स्वीकार किया हैं। समकालीन अप्पय दीक्षित और प्राचीन आलकारिको के समालोचना के समय पूज्यभाव का लोप करते हुए पण्डितराज की भाषा मे भेद स्पष्टतया दृष्टिगोचर हुआ है। अप्पय दीक्षित के खण्डन मे भाषा कटु, कटाक्षपूर्ण एव असुन्दर तथा अशिष्ट है जिससे यह प्राय सिद्ध होता है कि ये अपने पूर्वाग्रही दोष से ग्रसित होकर दीक्षित जी का खण्डन कर रहे हैं। जबकि मम्मटादि के प्रति खण्डन करते समय इनकी भाषा विनम्र तथा आदरयुक्त हैं। एतदर्थ पण्डितराज के द्वारा प्रस्तुत विविध विन्दुओ पर एक अवलोकन आवश्यक है।

<u>मम्मट के मत का खण्डन :</u>

उपजीव्य होने पर भी पण्डितराज जगन्नाथ तर्क भी कसौटी पर किसी को भी नहीं छोडते। सर्वप्रथम मम्मट पर प्रहार तथा उनकी शैली तो देखिए –

"यत्तु प्रान्च "अदोषै-सगुणौ सालकारो शब्दार्थौ काव्यम्' इत्याहु, तत्र विचार्यते शब्दार्थयुगल न काव्यशब्दवाच्यम्, मानाभावात् गुणालकारादि निवेशोऽपि न

युक्त " इत्यादि। –

रसगाधर पृ० ५–६

विश्वनाथ सम्मत लक्षण की आलोचना दृष्टव्य है —

" यत्तु रसवदेव काव्यम्, इति साहित्य दर्पणे निर्णीतम् तत्र वस्त्वलकारप्रधानाना काव्यानाम काव्यत्वापत्ते ।

रसगगाधर पृ० ७

आनन्दवर्धनाचार्य पर भी टिप्पणी करने से न चूकते हुए कहते हैं–

'आनन्दवर्धनाचार्यास्तु' प्राप्त श्रीरेषकस्मात् पुनरपि–इत्यादौ . चमत्कारिण्यपि चात्र भ्रान्तिरेवेति ध्वनिरपि तस्या एव युक्त.।[1]

यहाँ भाषा कितनी शिष्ट, सुष्ठु एवं सन्तुलित है।

मम्मटादि के समान रूय्यक को भी कहीं प्रतिवादी और कहीं प्रमाण के रूप मे उद्घृत् किया गया है। अलंकार सर्वस्वकार की प्रामाणिकता दीक्षित जी के प्रति स्वीकृत है।

अलकार सर्वस्वीकार रूय्यक के खण्डन में भी भाषा कटु अथवा क्लिष्ट नहीं है यथा–

" इत्यलङकारसर्वस्वकारदिभिरुक्त तत्र विचार्यते–विरोधमूला हि विभावनाद्यलङ्कार। . .. . कुत. पुनरुक्तनिमित्ता विभावना? इत्यादि।[2]

---

१ रस गगाधर पृ० २४७ – २४८

२ रस गगाधर पृ० ४३५ – ४३६

पण्डितराज ने अलङ्कार सर्वस्वीकार तक को कहीं–कहीं प्रामाणिक आचार्य की मान्यता दी है, किन्तु अप्पयदीक्षित को सर्वत्र अप्रामाणिक ही घोषित किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मे कहीं भी उनका अनुमोदन प्राप्त नहीं होता। मम्मटाचार्य, रूय्यक आदि के विषय मे प्रयुक्त भाषा तथा दीक्षित के खण्डन मे प्रयुक्त भाषा मे जमीन–आसमान का अन्तर है। यथा–मम्मटादि के लिए 'तच्चिन्त्यम् अथवा तत्र विचार्यते, तदपि न रमणीयम् आदि परन्तु दीक्षित के लिए–तदसत्, तत्तुच्छम, कियुक्तद्रविणपुङ्गवेन तथा केनापि आलऽकारिकम्मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवसउक्तिरश्रद्धयैव' जैसे व्यडग्य भी कसे गये हैं। पण्डितराज की दृष्टि में तो ऐसा लगता है मानो दीक्षित जी आलङ्कारिक हैं ही नहीं। वे मात्र अलङ्कार सर्वस्वीकार के अनुवादक हैं। उनका कोई भी मत अमान्य अथवा अरमणीय ही नहीं अपितु उपेक्षणीय भी था। अप्पय दीक्षित के सिद्धान्त की तीव्र एव कटु आलोचना का अन्योन्यालड्कार अच्छा उदाहरण है। अप्पय के मत को अक्षरशः उद्घृत करने के बाद उसकी वाक्य सरचना के द्वारा ही व्युत्पत्ति शैथिल्य प्रमाणित कर दिया गया है। सर्वत्र खण्डन ही प्रधान हैं, किन्तु प्रबन्ध का विषय न होने एवं अतिविस्तार भय से यहा देना अप्रासगिक होगा सुधी जन इसे रसगंगाधर के पृ० ४५५–४५६ पर देख सकते है।

पण्डितराज ने परमतखण्डन दो आधारो पर किया है –

१ लोक व्यवहारशास्त्र से विरोध दिखलाकर

२ अनुभवासिद्ध दिखलाकर।

पण्डितराज भावयित्री की प्रतिभा के साथ–साथ कारयित्री प्रतिभा के भी धनी हैं जैसा कि एक जगह उन्होने स्वय कहा हैं—

निर्माय नूतनमुदाहरणानुरूप

काव्य मयात्र विहित न परस्य किन्चित्।

कि सेव्यते सुमनसा मनसापि गन्ध

कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण।।[1]

इतना सब कुछ होते हुए भी पण्डितराज की शैली मे कुछ न्यूनताये भी हैं। किसी एक भी आलड्कारिक को सर्वत्र प्रामाणिक नहीं माना। समकालीन आलड्कारिको के खण्डन के समय जो मम्मट प्रामाणिक आचार्य थे वही कुछ क्षण पश्चात् ही प्रतिवादी के रूप में सम्मुख आते हैं और उनका कोई भी सिद्वान्त प्रमाणस्वरूप नहीं रहता है। जैसा कि काव्य लक्षण के प्रसग मे प्रतिवादी मानकर किस तरह मम्मटाचार्य का खण्डन किया गया है यह देखने लायक है–

" काव्यमुच्चैः पठ्यते, काव्यादर्थोव्यग्यते, काव्यश्रुतमर्थो न ज्ञात.... विमतवाक्यत्वश्रद्वेयमेव।"[2]

साराश तो यह है कि रूय्यक या अपप्य दीक्षित के मत का खण्डन करते समय काव्यावतार मम्मट व आनन्दवर्धनाचार्य इत्यादि प्रामाणिक आलड्ंकारिक हो जाते हैं तथा उनके ही मत को खण्डित करते समय वह नितान्त अप्रामाणिक हो जाते है। अत ये प्राचीनो मे अनुमन्ता है कि आधुनिकों के यह कह पाना बडा ही कठिन है।

इनकी एक कमी यह भी है कि उन्होनें अपने मत को कभी–कभी स्पष्ट न कहकर घुमा–फिराकर कहा हैं। कभी–कभी ऐसा भी हुआ है कि परमत को अपनी भाषा मे कहते हुए उन्होने अपनी ओर से उसमें सशोधन भी कर दिया हैं। अत उनके मत से मिश्रित

---

१ रस गगाधर पृ० ३

२ रस गगाधर पृ० २२ – २३

परमत एक व्यामिश्र मत हो जाता है और दोनों को अलग–अलग करने मे कठिनाई होती है। अत स्पष्टता का अभाव इनकी एक सबसे बडी कमी हैं। जबकि नैयायिक होने के नाते इसे स्पष्ट करना इनका सबसे बडा धर्म होना चाहिए। पण्डितराज की अपनी ही मान्यताओ मे विरोध दिखाई देता है और कहीं विषय की सूक्ष्मता को भेदो का आधार माना गया है तो कहीं उसी को बाधक माना गया है। उदाहरणार्थ–अलङ्कारो के प्रकारो के प्रदर्शन की बात आयी तो कहा कि यदि प्रत्येक उक्तिवैचित्र्य के सूक्ष्म भेद को लेकर नवीन अलङ्कार माना जायेगा तो अलङ्कार अनन्त हो जायेंगे क्योकि वाग्भङ्गी अनन्त हैं। उसी सूक्ष्मता का प्रसग जब काव्य के भेद करते समय आया तो कह दिया गया कि यदि शब्दार्थालङ्कार मे होने वाले वयग्यार्थ के चमत्कार के सूक्ष्म भेद को न माने और केवल अलङ्कारत्व के आधार पर दोनो को अधम काव्य कहा जाये तो ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य के सूक्ष्म भेद को भी नही मानना चाहिए। इसी प्रकार कई स्थल हैं। एक विषय का इन्होनें कई–कई बार कथन किया है। अत पिष्ट–पेषण खटकता है। इनकी एक कमी यह भी है कि एक विषय का निरूपण एक स्थान पर न करके कई जगहो पर थोडा–थोडा करके किया है। पण्डित्य के कारण दुराग्रह की झाकी हमे अप्पय दीक्षित के खण्डन मे दिखाई पडता हैं। वस्तुत अप्पय दीक्षित का जो मत हैं उसे ठीक ढग से न कहकर अपने खण्डन के अनुरूप बनाकर खण्डित करना पण्डितराज का वैशिष्ट्य रहा है। विशेषकर वहा जहां दीक्षित ने स्वय व्याख्या नही की है वहा ये पूर्णरूपेण स्वतन्त्र होकर विचरण करते है। दीक्षित का खण्डन तो कहीं केवल **विशेष पद व्याकरण की दृष्टि से असंगत है** कहकर यह उदाहरण दुष्ट है यथा ––

"यदपि तेनैवादोहतम्–यक्ष्याशया हि मन्जूषां . . . . . इति पदकाङ्क्षितया न्यूनपदम् ।।"[1]

---

1. रसगगाधर पृ० ४४७

अप्पयदीक्षित के लिए एक बार नहीं अपितु अनेकश अपशब्द का प्रयोग प्रौढ बुद्धि जगन्नाथ के लिए रचमात्र भी प्रशसनीय नही हैं। यथा –

'अलड्कारशास्त्रतत्वानवबोधनिबन्धनम्' ।[1]

तथा– 'द्रविणशिरोमणिमि" ।[2]

केनापि आलड्कारिक मन्येन प्रतारितस्य दीर्घश्रवस्य उक्तिरश्रद्धेयैव ।[3]

"सहृदयैराकलनीय कियुक्तद्रविणपुड्गवेनेति' ।[4]

पण्डितराज द्वारा मतवादी का नामोल्लेख न करना भी एक बडा दोष है। नैयायिक का एक बडा गुण यह है कि वह भाषा मे वक्तव्य की स्पष्टता का ध्यान रखे तथा एक दोष भी है कि इससे क्लिष्टता भी आ जाती है और पण्डितराज भी इसके अपवाद नहीं हैं। अत सैद्धान्तिक को छोडकर सामान्य विषय प्रतिपादन मे वह अनुकूल सिद्ध नहीं होता है।

चित्रमीमासा मे दीक्षित जी का लक्ष्य केवल सहृदयजनो में सन्तोष हेतु नहीं था अपितु उनके समक्ष अपने युग की पृष्ठभूमि मे चित्रकाव्य की शुष्क समस्याओ के रहस्य का उद्घाटन करना था। एक ओर वे चित्रमीमांसा की रचना करते हैं, दूसरी ओर चित्र विधान की योजना करते दिखलाई पडते हैं। वे कठोर यथार्थवादी की तरह सभी चित्रो को ठोस रूपो मे रखने की कोशिश करते हैं। दीक्षित जी का चित्रविधान उस रूप मे होना आवश्यक है जिससे कवि की विशद भावनाओं को एक व्यवस्थित अभिव्यक्ति मिल सके। विशेषकर उक्त भावना का स्पष्टीकरण तो निम्नो के द्वारा ही होना आवश्यक है। जो कवि का विशेष लक्ष्य रहा है। "चित्रमीमासा मे वे कितने तलस्पर्शी अवगाहन का परिचय देते हैं इसे

---

१ रसगंगाधर पृ० १३

२ रसगगाधर पृ०१८०

३ रसगगाधर पृ० २३६

४ रसगगाधर पृ० ४२०

कोई भी सुधी समालोचक स्वय देख सकता है। व्याख्याकार नागेशभट्ट ने समय-समय पर उनकी व्याख्या मे तर्कयुक्तियो का अवलम्बन लेकर उनके मत की ही पुष्टि की है। हम दीक्षित की 'चित्रमीमासा' को एक तर्कपुष्टि कल्पना की सज्ञा दे सकते हैं जहा उनकी विचारधारा विभिन्न फलक पर एक दूसरे के साथ पूर्णतया सम्पृक्त हैं।

जहाँ तक पण्डितराज का यह दर्प कि उन्होने दीक्षित के मत की परिदीर्घ आलोचना करके उनके लक्षण को पूर्णतया असगत सिद्ध कर दिया है तथा अपने मत को प्रबन्ध युक्तियो से सगत सिद्ध किया है, वह मात्र पण्डित्य प्रदर्शन के व्यामोह की ही परिणति हैं। हाँ कहीं-कहीं उस खण्डन मे कुछ आधार उचित है, किन्तु सर्वत्र उनका खण्डन उचित ही हो ऐसा नहीं हैं। प्राय जातिगत वैमनस्य एव अपने पण्डित्यपूर्ण दुराग्रह के वशीभूत होकर पण्डितराज द्वारा किया गया खण्डन सहृदय के मानसपटल पर सही नहीं उतरता हैं। उनके द्वारा दीक्षित के लिए कटुक्तियो का प्रयोग तो इन्हे पूर्णरूपेण दुराग्रही सिद्ध करता हैं, किन्तु पण्डितराज का अपूर्व, अद्भूत, मूर्धन्य एव प्रखर समालोचक के रूप में स्थान सदैव ही समादृत रहेगा। उक्त दोषो के होते हुए भी इन विद्वद्वय का कीर्ति सौरभ उसी प्रकार व्याहत नहीं होता यथा पङ्कविष्ट पद्मसौन्दर्य। प्रत्युत गुणाधिक्य उनमे दोषो की ओर ध्यान ही नहीं जाने देता हैं। वस्तुतः समालोचको का अलंङकार के विषय मे जो मत-मतान्तर है उनके समाधान हेतु यह प्रबन्ध सहायक सिद्ध होगा। इन दोनो ही विद्वानो के समीक्षात्मक स्वरूप के विवेचन से यदि किन्चित भी सहृदय साहित्यिको का नूतनानुशीलन में सहयोग हो सकेगा तो मेरा यह लघु प्रयास सार्थक होगा तथा मै धन्यता का अनुभव करूगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

१	ऋग्वेद	सायणभाष्यम्
२	सामवेद	सायणभाष्यम्
३	अथर्ववेद	सायणभाष्यम्
४	निरूक्तम्	यास्क
५	अष्टाध्यायी	पाणिनि
६	ध्वन्यालोकः	आनन्दवर्धन
७	शिशुपालवधम्	माघ
८	काव्यालङ्कारसारसग्रह	उद्भट
६	काव्यालङ्कारसूत्रम्	वामन
१०	काव्यादर्श	दण्डी
११	अलङ्कारसूत्रम	भामह
१२	विक्रमोर्वशीयम्	कालिदास
१३	मालविकाग्निमित्रम्	कालिदास

१४	श्रीमद्भागवतम्	व्यास
१५	नाट्यशास्त्रम्	मुनिभरत
१६	महाभाष्यम	पतन्जलि
१७	काव्यप्रकाश	मम्मट
१८	शब्दव्यापारविचार	मम्मट
१६	प्रदीपोद्योत	गोविन्दठक्कुर,नागेशश्च
२०	काव्यप्रदीप	गोविन्दठक्कुर,नागेशस्च
२१	बालबोधिनी	वामनशिवराम आप्टे
२२	नागेश्वरी(काव्य प्रकाश)	शिवशकर झा
२३	चन्द्रालोक	जयदेव
२४	चित्रमीमासा	अप्पयदीक्षित
२५	चित्रमीमासा सुधाटीकान्विता	धरानन्द
२६	भारतीटीकान्विता	जगदीश मिश्र
२७	कुवलयानन्द	अप्पयदीक्षित
२८	ध्वन्यालोकलोचन	अभिनवगुप्तपादाचार्य
२६	ध्वन्यालोकदीधिति	बदरीनाथ झा
३०	प्रतापरूद्रयशोभूषणम्	विद्यानाथ

३१	अलङ्कारसर्वस्वम्	रूय्यक
३२	राजतरगिणी	राजशेखर

३३	काव्यमीमासा	राजशेखर
३४	वक्रोक्तिजीवितम्	कुन्तक
३५	सरस्वतीकण्ठाभरणम्	भोजदेव
३६	सिद्धान्तलेश	अप्पयदीक्षित
३७	शिवलीलाप्रसक्ति	अप्पयदीक्षित
३८	न्यायरक्षामणि	अप्पयदीक्षित
३९	नीलकण्ठविजय	अप्पयदीक्षित
४०	रसगगाधर	पण्डितराज जगन्नाथ
४१	अप्पयदीक्षित	डा०नरेन्द्रनाथ शर्मा
४२	रसगगाधर – एक समीक्षात्मक अध्ययन	कु० चिन्मयी माहेश्वरी
४३	गुरुमर्मप्रकाश	नागेश
४४	भामिनी विलास	पण्डितराज जगन्नाथ
४५	आसफविलास	पण्डितराज जगन्नाथ
४६	गगालहरी	पण्डितराज जगन्नाथ
४७	साहित्यदर्पण	विश्वनाथ
४८	चित्रमीमासा खण्डनम्	पण्डितराज जगन्नाथ
४९	नैषधमहाकाव्यम्	श्री हर्ष
५०	सिद्धान्तकौमुदी	भट्टोजिदीक्षित
५१	सस्कृत सुकवि समीक्षा	वलदेव उपाध्याय

५२	सस्कृत साहित्येतिहास	बलदेव उपाध्याय
५३	हिस्ट्री आफ सस्कृत पोएटिक्स	कीथ

५४ पण्डितराज जगन्नाथ के काव्यग्रन्थो का साहित्यिक अनुशीलन — डा०मनुलता शर्मा

५५ पण्डितराजकृताप्पयदीक्षितसमीक्षा विवेचनम् — डा० गुन्जेश्वर चौधरी

५६ अग्निपुराणम् — व्यास

५७ पुराणविमर्श — बलदेव उपाध्याय

५८ सस्कृतसाहित्येतिहास — वाचस्पति गौरोला

५६ व्युत्पत्तिवाद — गदाधरभट्ट

६० शक्तिवाद — गदाधरभट्ट

६१ नैषधमहाकाव्यम् — त्रिभुवननाथ चतुर्वेद

६२ नैषधमहाकाव्यम् टीका — मल्लिनाथ

६३ शब्दव्यापारविचार — मम्मट

६४ चन्द्रिकाचकोर — जग्गुवेकटाचार्य

६५ हिस्ट्री आफ सस्कृत पोयटिक्स — एस के डे

६६ हिन्दी साहित्य का इतिहास — आचार्य रामचन्द्र शुक्ल

६७ अलकार शेखर — केशव मिश्र

६८ काव्यमीमासा — हेमचन्द्र

६६ अलकारकौस्तुभ — आचार्य विश्वेश्वर

७० अलकाररत्नाकर — शोभाकर मित्र

७१ कौण्डिन्यप्रहसन — श्री महालिग शास्त्री

Indian oriental conference page-176-180 by Dr Raghwan

७३ South Indian Manuscript Report page-90-100 by Pro Hulsh

७४ What is art — Tolstoy

७५ सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास — प्रो०काणे

सहायक पत्र-पत्रिकाया सूची

१ पण्डितपत्रम् — वाराणसी

२ सरस्वती सुषमा — स० स० विश्वविद्यालय वाराणसी

३ सुरभारती — बटोदर सस्कृत महाविद्यालय बडौदा

४ सुप्रभातम् — वाराणसी

५ सूर्योदय — भारतधर्म महामडल वाराणसी

६ सस्कृत सौदामिनी — वृन्दावन

७ वल्लरी — वाराणसी

८ गाडीवम् — वाराणसी

६ प्राची — वाराणसी